सिद्ध योग

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सींवाई, आगरा

वर्ष १८

अंक २

इस अंक में—

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, सवाई

卐 स्वामादिदेवः — १

卐 आत्मा और परमात्मा (विशेष लेख) — २
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

卐 योग सिद्धि के उपाय — ६
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

卐 मन की शुद्धि — १६
श्रीमती सविता भारद्वाज

卐 कर्म काण्ड एवम् योग — १६
श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

卐 यौगिक प्रश्नोत्तरी — २८
पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी द्वारा

卐 सिद्धयोग के अनुवर्ती महात्मा मंसूर — ३४
डा० श्री विजयसिंह

卐 सर्वेपुर्णमन्ते योगम् — ३७
ताप के तीन प्रकार

卐 श्रद्धा-विश्वास की कसौटी — ३६
श्री विष्णुप्रसाद व्यास

卐 शिव तत्व की प्राप्ति — ४१
श्री जगदीशनारायण उपाध्याय

卐 मृत्यु मानो पर्व है! — ४८
श्री माने गुरु

संयुक्त सम्पादक

'दिव्य'

मई १९८५

वार्षिक मूल्य २० रुपया। इस अङ्क का ३ रुपया

अवश्य आइये ! ॐ अवश्य देखिये !

योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का

वार्षिक योग महोत्सव

सभी भाई-बहिन को यह जानकर हर्ष होगा कि सुप्रसिद्ध योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का वार्षिक 'योग महोत्सव' ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी, नवमी, दशमी तदनुसार तारीख २७, २८, व २९ मई ८५ ई० सोमवार, मंगलवार व बुद्धवार को मनाया जायगा।

सदा की भांति उत्सव का कार्यक्रम बहुत ही रोचक और उपयोगी बनाने का आयोजन किया गया है। उत्सव में योग-सिद्धान्तों पर उच्चकोटि के प्रवचन उपदेश, भजन एवं सुमधुर शास्त्रीय संगीत आदि का कार्यक्रम रहेगा। आश्रम के ब्रह्मचारी यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन भी करेंगे। सभी योग-प्रेमियों को इस समारोह में सम्मलित होकर लाभ उठाना चाहिए।

सभी गुरु भाई-बहिन को श्री गुरुदेव जी की ओर से इस उत्सव के निमंत्रण पत्र भी भेजे जा रहे हैं। किन्तु कभी-कभी डाक की गड़बड़ी के कारण समय पर पहुँच नहीं पाते हैं। अतः सभी भाई-बहिन इस सूचना को ही अपना आमंत्रण समझते हुए उत्सव में सम्मिलित हों।

नोट:—२९ मई बुद्धवार गंगा दशहरा की नगर शोभा-यात्रा (जलूस) का आयोजन है जिसमें बैण्ड बाजे के साथ विविध झाँकियों का आयोजन रहेगा। शोभा-यात्रा सायं ६ बजे योग-साधन आश्रम से प्रारम्भ होकर ऋषिकेश के मुख्य बाजारों से होती हुई रात के ११ बजे आश्रम वापिस पहुँचेगी। अतः सभी सज्जन प्रेमियों को उत्साह के साथ इस शोभा-यात्रा एवं समारोह में सम्मिलित होना चाहिए। आगन्तुकों को मौसम के अनुकूल कपड़े बिस्तर आदि अवश्य साथ लाना चाहिए।

मन्त्री—योग-साधन आश्रम
रेलवे रोड ऋषिकेश (उ०प्र०)

ये शब्द कह करके चित्त वृत्तियों के निरोध नाम बोध को योग कहा है। और योग नाम समाधि का है। समाधि की यथार्थता को समझाते हुये भगवान पतञ्जलि देव ने कहा—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं' अर्थात् यह द्रष्टा जीवात्मा समाधि अवस्था में अपने नित्य शुद्ध स्वरूप में अवस्थित रहता है। व्यास भाष्य में स्वरूप प्रतिष्ठा चितशक्तिरेवा कैवल्ये स्वरूप प्रतिष्ठा का अर्थ समझाया जैसे चेतन शक्ति जीवात्मा अपनी केवली भाव में हुआ करता है। जिस समय जीवात्मा बौध्येय बोधों को देखता है तब उसकी सत्ता बोध सत्ता होती है। भगवान पतञ्जलि देव ने उसका 'वृत्तिसारूप्य-मितरत्र' यह सूत्र कह करके यह स्पष्ट किया है कि यह जीवात्मा समाधि से अतिरिक्त काल में अपनी वृत्तियों के साथ मिला रहता है। समाधि अवस्था के अन्दर जीवात्मा का कैवल्यीभाव रहता है उस समय इसमें कोई भी विकार नहीं रहा करता। उपनिषद इसी सिद्धान्त को स्पष्ट शब्दों में पुष्टि करती है।

भिद्यते हृदय ग्रन्थि
छिद्यन्ते सर्व संशयः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन् दृष्टे परा वरे॥

अर्थात् उस नजदीक से नजदीक और दूर से दूर रहने वाली व्यापक सत्ता के देख लेने बाद हृदय की गांठ खुल जाती है। अर्थात् बौध्येय बोध खत्म हो जाता है और ऐसी स्थिति आ जाने के बाद सभी प्रकार के संशयों का स्वतः ही छेदन हो जाता है। सभी प्रकार के कर्म जाल की समाप्ति हो जाती है। तब इस आत्मा पर किसी भी प्रकार से इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और अज्ञान का आवरण नहीं रहता। उस अवस्था के अन्दर जीवात्मा सभी प्रकार के क्लेश-बन्धनों से मुक्त होकर के योगी बन जाता है। तब यह संसार में जो भी क्रिया कलाप करता है वह कर्तव्य बुद्धि से रहित होकर करता है। उस समय इसके कर्म पाप पुण्य रहित होकर रहा करते हैं। यह जीवात्मा का स्वरूप जो समाधि स्थिति में आकर बिल्कुल एकत्व को पा जाता है और सब प्रकार से ईश्वरीय शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है। योग-दर्शन में ईश्वर का लक्षण बताते हुये भगवान पतञ्जलि देव ने ईश्वर को पुरुष विशेष बताया है। पुरुष विशेष शब्द का अर्थ है, बहुत से पुरुषों में एक खास पुरुष और यही अर्थ परमात्मा शब्द का भी है। अर्थात् परमाश्चासौ आत्मा इति परमात्मा कहते हैं। पुरुषों में जो खास पुरुष है अर्थात् पुरुषों में जो विशेष पुरुष है उसे पुरुष विशेष ईश्वर कहा जाता है। योग दर्शन में पुरुष विशेष ईश्वर का लक्षण भगवान पतञ्जलि देव ने इस प्रकार किया है—

'क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।'

अर्थात् क्लेश कर्म विपाक आदि से जो बिल्कुल अपरामिष्ट है उसी को पुरुष विशेष ईश्वर कहा गया है। वह ईश्वर सदा ही सिद्ध और सदा ही मुक्त है उसको कभी भी कोई साधना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जीवात्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में आने के लिये साधना की आवश्यकता रहती है किन्तु परमात्मा को यह कभी आवश्यकता नहीं रहती। वह परमात्मा सदा ही सिद्ध है और सदा ही मुक्त है। इस सूत्र पर भगवान व्यास-देव ने अपने भाष्य की पंक्तियों में बिल्कुल ही स्पष्ट करके समझाया है—

अविद्यादयः क्लेशाः कुशला कुशलानि कर्माणि तत्फलं विपाकस्तदनु गुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेन अपरामृष्टः स पुरुष विशेष ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्य प्राप्ताः ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्ध कोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृति लीनस्य उत्तरा बन्ध कोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

योऽसौ प्रकृष्ट सत्वो पादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्तः आहोस्विन्निर्निमित्त इति। तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किन्निमित्तम्? प्रकृष्ट सत्वनिमित्तम्। एतयो शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः। एतस्माद एतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति।

तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशय विनिर्मुक्तम्, न तावद् ऐश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते, यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्, तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति कस्माद द्वयोस्तुल्य योरे कस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराण मिदमस्तु-इत्येकस्य सिद्धौ इतरस्य प्राकाम्यविघाता दूनत्वं प्रसक्तम्, द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थ प्राप्तिर्नास्त्यर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद् यस्य साम्यातिशय विनिर्मुक्तमैश्वर्य स ईश्वरः स च पुरुष विशेष इति।

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, ये ५ क्लेश होते हैं। अच्छे और बुरे कर्म होते हैं और उनके फल को विपाक कहते हैं। फलों के साथ कर्मों का अनुसन्धान करने वाली वासना और वह कर्म वासना जहाँ जमा

रहती है उसको कर्माशय कहते हैं। यद्यपि क्लेश कर्म विपाक आदि मन में रहते हैं आत्मा में नहीं। किन्तु व्यवहार में यह कहा जाता है कि इन कर्म फलों का उपभोक्ता यथा जीवात्मा है। जैसे जय और पराजय होती तो युद्ध करने वाले सैनिकों की है किन्तु वह जय पराजय मानी जाती है उनके स्वामी की यद्यपि उनका वह स्वामी राजा लड़ाई करने नहीं आता किन्तु जय या पराजय होने पर कहा नहीं जाता है कि फलां राजा की हार हो गई या जीत हो गयी। अब यहां पर एक प्रश्न पैदा होता है। बहुत से कैवल्य भागी लोग क्लेश कर्म आदि बन्धनों से छूटे हुये होते हैं। क्या उनको ईश्वर कहा जा सकता है अन्यथा नहीं। उत्तर—नहीं। क्योंकि वे सब लोग क्लेश कर्म आदि के तीनों बन्धनों को काटकर मुक्तात्मा बने हैं। और ईश्वर के साथ इन तीनों बन्धनों का सम्बन्ध न पहले कभी था और न कभी आगे होगा। मुक्त आत्मा वही कहलाते हैं जो पहले बन्धन में थे। और प्रकृति लीनों को भी बाद में जन्म-मरण का सम्बन्ध बना रहता है। और ईश्वर के साथ इन्हीं सभी प्रकार का सम्बन्ध न पहले कभी था और न ही कभी आगे होगा। और निकृष्ट ईश्वर का शाश्वतिक उत्कर्ष है उसका आधार शास्त्र है। और शास्त्र का आधार सदा ईश्वर है। ये सम्बन्ध परस्पर आधारित है। ईश्वर का ऐश्वर्य सबसे बड़ा ऐश्वर्य है क्योंकि किसी एक ही वस्तु के विषय में कोई एक व्यक्ति कहता है कि ये वस्तु नयी हो जाये। दूसरा कहता है नहीं ये वस्तु पुरानी ही रहनी चाहिए एक ही वस्तु के विषय में दो व्यक्ति विभिन्न प्रकार की कामना करते हैं। उनमें से एक ही की कामना पूर्ण होगी दूसरे की नहीं इसलिये जिसका ऐश्वर्य सबसे बड़ा है वही ईश्वर कहलाता है। एवं वही ईश्वर सबसे बड़ा सर्वज्ञ है। व्यास-भाष्य की ये पंक्तियें यह सिद्ध करती है कि यद्यपि ईश्वर का ऐश्वर्य सबसे बड़ा अवश्य है किन्तु अन्य योगी लोग भी जो मुक्तात्मा हो चुके हैं एवं सभी प्रकार के बंधनों से छूट चुके हैं वे भी सभी सर्वशक्तित्व शक्तियुक्त सामर्थ्यवान अवश्य है। इसलिये आत्मा और परमात्मा का भेद है यह नहीं कि वह ईश्वर परम आत्मा है और यह आत्मा है। एक अभ्यास करने वाला योगी पूरे-पूरे पुरुषार्थ के साथ हृदय ग्रन्थि का विभेदन करके सभी प्रकार के क्लेश बन्धनों से मुक्त होकर अपने आपको उस सर्व व्यापक सत्ता में विलीन कर सकता है। और प्रकृति पर अपना पूरा-पूरा अधिकार पाकर उसको अपनी आज्ञा के बन्धन में बांध सकता है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में सभी व्यक्तियों को उपरोक्त भारतीय विचार सभी प्रकार से समझ लेनी चाहिये।

सर्वे भवन्तु सुखिना

सर्वे सन्तु निरामया।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा

कश्चिद् दुःख भाग भवेत्॥

जब सत्य-धर्म की प्रेरणा होती है !

● श्रीकृष्णदत्त जी भट्ट

अरे सुन्दरियां, यह राजमहल, यह भोग-विलास ! छि: छि:—क्या रक्खा है इस सब में ? कुछ तत्व नहीं भोग-विलास में ! व्यर्थ है यह सारा वैभव ! कभी तृप्ति होने वाली है इन विषय भोगों से ?

विश्व में सर्वत्र जरा है, व्याधि है, मृत्यु है, दुःख है, शोक है, हाहाकार है और इसी में हम सब लिपटे पड़े रहते हैं, छटपटाया करते हैं।……

को नु हासो किमानन्दो
निच्चं पज्जलिते सति ।
अन्धकारेन ओनद्धा
पदीपं न गवेसथ ॥

'यह हँसी कैसी ? यह आनन्द कैसा ? चारों ओर तो धू-धू करके आग जल रही है। सारा संसार उस आग में जला जा रहा है। फिर भी अन्धकार से घिरे हुए लोग प्रकाश नहीं खोजते !'

सिद्धार्थ उस प्रकाश की खोज में निकल पड़ा। महल और राजपाट, पत्नी और पुत्र, वैभव और विलास उसका रास्ता नहीं रोक सके। सत्य की प्राप्ति के लिये उसने सब कुछ त्यागकर जंगल का रास्ता पकड़ा। भिक्षा रूखी-सूखी रोटियां बड़ी मुश्किल से गले के नीचे उतर रही थी, पर उसने इसकी परवाह नहीं की। कारण, उसके हृदय में सत्य धर्म की प्रेरणा हो रही थी।

× × × ×

और महावीर ?

उन्हें भी जब सत्य धर्म की प्रेरणा हुई, तब भरी जवानी में उन्होंने घर-बार छोड़कर जंगल का रास्ता पकड़ा।

बर्षों साधना करके उन्होंने सत्य को पा लिया।

कहते हैं वे—

पुरिसा ! सच्चमेव
समभिजाणाहि ।
सच्चस्स आणाए से
उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ ॥

'हे पुरुष ! तू सत्य को ही सच्चा तत्त्व समझ। जो बुद्धिमान सत्य के ही आदेश में रहता है, वह मृत्यु को तैरकर पार कर जाता है।'

राजरानी मीरा ?

वैभव की गोद में पली-पलायी मीरा सब कुछ त्यागकर बाहर निकल पड़ी। क्यों ?

सत्य की प्रेरणा उसकी नस-नस में भिद गयी। उसके सत्य ने 'गिरिधर गोपाल' का रूप धारण कर लिया।

उसको लिये वही एक सत्य था, बाकी सब कुछ असत्य।

उसकी प्राप्ति के लिये मीरा ने क्या नहीं किया ?

'लोग कहे मीरा भई रे बावरी !'

पर सत्य धर्म की प्रेरणा थी उसके अन्तर में। उसने इस पागल मन को फिर मारे भगाया।

और फिर तो—

जहर को प्यालो राणा जी भेज्यो,
सालिगराम बण्यो।

योग सिद्धि के उपाय

● आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

सुख और शान्ति का उपाय है मनुष्य के अन्दर 'स्व' की खोज और आत्मतत्त्व की अभीष्ट उपलब्धि। इसी खोज के लिये संसार के विभिन्न धर्मों तथा साधना पद्धतियों के योग यज्ञ, नाम जप, संकीर्तन, समाज सेवा, दान, तप, शास्त्रों का पाठ तथा ध्यान-समाधि आदि अनेकों उपायों का अवलम्बन लेते हैं। किन्तु बहुत कम व्यक्ति ही अपनी खोज में सफल हो पाते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि उनकी जिज्ञासा तथा क्रिया में कोई कमी है, अपितु मुख्य बात यह है कि सभी साधनाओं के मूल में योग सन्निविष्ट है। बिना योग सिद्धि के ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा आचार जलहीन वृक्ष की तरह हैं। लाखों प्राणियों में किसी किसी को अपने माता-पिता के पुण्य कर्मों तथा स्वयं के शुभ प्रारब्ध के फलस्वरूप योग का पवित्र मार्ग प्राप्त हो पाता है। उसमें भी सद्गुरु जो ज्ञान तथा क्रिया दोनों में ही पूर्ण सिद्ध हों, सौभाग्य से प्राप्त होते हैं। यदि किसी प्रकार पूर्ण गुरुदेव प्राप्त हो जाय तो साधक अपनी त्रुटियों से सिद्ध होने के कारण योग सिद्धि प्राप्त हो नहीं पाती। श्री सद्गुरुदेव ऊपर से अपनी करुणा कृपा की वृष्टि करते हैं और उधर साधक के अपने प्रमाद और दुर्भाग्य से शक्ति बाहर निकल जाती है। परिणाम यह होता है कि साधक खाली का खाली बना रहता है तथा 'कालहिं, कर्महिं, ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय' का कथन अन्वर्थ बन जाता है।

योग साधक चार प्रकार के होते हैं—मन्द या अल्पवीर्य, मध्यम उत्तम या अधिमात्र तथा उत्तमोत्तम या अधिमात्रतम। पूर्व दो प्रकार के साधक यदा-कदा देखा देखी योग ध्यान में प्रवृत्त होते हैं साथ ही उनकी वृत्तियाँ दुनियादारी से भरपूर रहती हैं। ऐसे साधकों को कई जन्मों में गुणाकार प्राप्त होने पर देव-कृपा से योग सिद्धि हो पाती है। अन्तिम दो प्रकार के साधक वे होते हैं जिनका जन्म माता पिता की रज वीर्य की शुद्धि द्वारा संकल्प तथा दृढ़ इच्छा शक्ति से हुआ है और जो अपनी साधना में महा उत्साही तथा दृढ़ निश्चयी हैं। सर्वश्रेष्ठ साधक वह है जिसका जन्म पुण्यवान माता-पिता की तपस्या के फलस्वरूप हुआ है तथा उसके सभी संस्कार शास्त्र विधि से किये गये हों जिससे उसके मल आवरण और विक्षेप नष्ट हो गये हों।

उसके बाद उस पर पूर्ण गुरुदेव की अपार करुणा कृपा हो गई हो। जिसने श्री गुरुदेव की ऐसी सेवा की हो जिससे गुरुदेव ने सन्तुष्ट होकर उसे अपना सर्वस्व दे दिया हो और उसे उसी क्षण योग की चरम स्थिति प्राप्त हो गई हो। योग सिद्धि का मूल श्री गुरुदेव के मन की प्रसन्नता है। श्री गुरुदेव की कृपा के बिना अनादि चितिशक्ति साधक का वरण नहीं करती और न उसका कल्याण हो सकती है। श्री गुरुदेव उसी पर प्रसन्न होते हैं जो अपना सर्वस्व समर्पण कर देने में कुछ सोच-विचार नहीं करता तथा प्राप्त शक्ति को कंजूस के धन की तरह गुप्त रख सकने की सामर्थ्य रखता है। ऐसा साधक यदि गुरुदेव को मिल जाता है तो वे बिना मांगे ही अपना अतुलनीय दैवी सम्पत्ति चुपचाप बिना बताये उसी प्रकार उसे दे देते हैं जिस प्रकार द्वारिका-धीश ने निष्काम साधक सुदामा को सारा ऐश्वर्य चुपचाप प्रदान कर दिया था। उत्तम कोटि का साधक उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, हरक्षण अपने अभ्यास में लगा रहता है। 'सततभ्यासी भवति द्विजः।' ध्यान समाधि के सतत अभ्यास से साधक का कर्मबन्धन शिथिल हो जाता है तथा श्री गुरुदेव की कृपा से वह 'धर्ममेघ समाधि' की भूमिका में आरूढ़ हो जाता है, जहां उसके द्वारा पुण्य कर्म ही होते हैं।

इस शताब्दि के महान योगी महर्षि अरविन्द ने योगसिद्धि के तीन उपाय बताये हैं—गुरु, शास्त्र तथा उत्साह। सर्व प्रथम साधक को ऐसे गुरु की कृपा प्राप्त हो जाय जो स्वयं क्रिया सिद्ध तथा शास्त्र सिद्ध हों। दूसरे साधक को शास्त्रों में दृढ़ विश्वास हो तथा उनके पाठ द्वारा सन्देह की निवृत्ति होकर साधना पद्धति की सफलता में पूर्ण विश्वास हो। स्वाध्यायी साधक को इष्ट कृपा शीघ्र प्राप्त होती है। महर्षि पातञ्जलि ने 'स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः'—सूत्र में यही फल बताया है। स्वाध्याय के बल से साधक सिद्धानुकम्पा का भाजन बनता है। शास्त्राभ्यास के साथ-साथ जप-ध्यान भी आवश्यक है। अन्यथा साधक 'ज्ञानिबन्धु' बन जायगा। शास्त्र-वासना से उसकी बुद्धि कुछ सिद्धान्तों के प्रति दुराग्रही बन जायगी। एक वेदान्ती महामण्डलेश्वर ने ऋषिकेश में योग महत्व को न समझकर एक सभा में कोरे शास्त्र ज्ञान के दुष्परिणाम स्वरूप अपनी 'ज्ञान-बन्धुता' का परिचय देकर कई साधकों को अश्रद्धा तथा पाप वरण का किया था। अल्पशास्त्रज्ञ मूर्ख से भी अधिक खतरनाक होता है। साधक को शास्त्रज्ञान को अपनी अनुभूति का विषय बनाना चाहिए। केवल भाषण से शास्त्रज्ञान गधे पर लदी हुई चन्दन की लकड़ी के बोझ के समान है। इसके साथ-साथ साधक आलस्य रहित होकर हरक्षण उत्साह युक्त हो। उसमें समुद्र को पी लेने की प्यास हो और निरन्तर

उत्साहः श्रद्धा तथा आदर के साथ गुरूपदिष्ट साधना में लगा रहने वाला हो। उत्साही साधक फल की परवाह किये बिना सतत् अभ्यास में रत रहता है। जिसके फलस्वरूप वह थोड़े ही समय में योग की उच्च भूमिकाओं में स्थित हो जाया करता है। जो साधक साधना से मन मोड़कर मान सम्मान तथा प्रदर्शन के चक्कर में पड़ जाते हैं वे कहीं के नहीं रहते। योगकुण्डलि/१ उपनिषद् में कहा गया है कि शास्त्र और गुरु के बिना योग सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। अच्छे साधकों का यह अनुभव है कि हमारे सद्गुरुदेव जिन साधकों पर विशेष कृपा करते हैं उन्हें शास्त्राभ्यास की रुचि प्रदान कर देते हैं। शास्त्र का आधार लेकर ही गुरुदेव साधना के मार्ग का उपदेश दिया करते हैं।/२ अभ्यास के विषय में भगवान पतञ्जलिदेव जी महाराज ने उल्लेख किया है कि—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्येण
सत्कारासेवितो दृढभूमिर्भवतिः।

अर्थात् दीर्घकाल तक लगातार आदरपूर्वक किया हुआ अभ्यास दृढभूमि बन जाता है। अभ्यास तथा शास्त्राभ्यास के बल से साधक सिद्धि का भाजन बनता है।/३ जब तक साधक को दृढ़ विश्वास नहीं होगा तब तक उसे साधना में आनन्द नहीं आयेगा। बिना आनन्द के वह किसी प्रकार भी साधना में कैसे प्रवृत्त हो सकेगा।

श्रद्धा और तप योग सिद्धि के अपर साधन हैं। श्रद्धा का जन्म सत्यनिष्ठा से होता है। जिसके जीवन में कपट, छल, छिद्र, जितना कम होगा उतनी ही अधिक उसमें श्रद्धा होगी। श्रद्धायुक्त मन साधना के पथ पर सरपट दौड़ लगा सकता है। श्रद्धा योगी की रक्षा माँ की तरह करती है उपनिषद् में भी आत्म प्राप्ति के सन्दर्भ में ऋषि का उद्घोष है कि—'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्' अर्थात् आत्मा का दर्शन सत्य, तप, यथार्थ ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य के बिना नहीं हो सकता। भगवान व्यासदेव का भी यही मत है कि—'अतपस्विनः योगो न सिध्यति' जो ब्रह्मचर्य अस्तेय, सत्य भाषण, प्राणायाम रूपी तप नहीं करता उसे योग में सफलता नहीं मिल पाती। तप से संचित पाप कर्मों का नाश होता है। 'तपसा किल्बिषं हन्ति, प्राणायामेन पातकम्' प्राणायाम के अभ्यास से महापातक नष्ट हो जाते हैं। भूख प्यास, शीतोष्णादि द्वन्द्वसहन से अशुद्धि का

नोट—१. 'न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा नैव जगत्त्रये।' योगकुण्डलिनी उ. १२
२. 'शास्त्रं विनापि संबोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः।' वही। १०
३. 'अभ्यासवासना शक्त्या तरन्ति भवसागरम्।' वही

क्षय होकर अणिमादि कायिक तथा दूरदर्शन दूर श्रवणादि ऐन्द्रिय सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। १/ तपस्वी को ही प्राणायाम सिद्ध हो पाता है। आसन सिद्धि से तप सिद्ध होता है इसी प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना से उत्साह तथा धैर्य तथा धारणा शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है जिससे साधक में शक्ति को स्वयं ग्रहण करने तथा अधिकारी साधकों पर शक्तिपात करने की सामर्थ्य आती है। प्राणायाम परायण साधक के आगे प्रकाशपथ स्पष्ट हो जाता है। प्रकाशावरण का क्षय होने से ऐसा साधक समाधि के द्वार पर पहुँच जाया करता है।

वराहोपनिषद् में योग सिद्धि के लिए दो प्रकार के उपायों का उल्लेख है—शुकदेववत् साधना तथा वामदेव की तरह साधना। शुकदेव का मार्ग विहंगम मार्ग कहलाता है तथा वामदेव का मार्ग पिपीलिका मार्ग कहलाता है। प्रथम तुरन्त मुक्तिप्रद है, द्वितीय क्रममुक्तिप्रद २/ जो शुकमार्ग का अवलम्बन करते हैं उन्हें योगसिद्धि शीघ्र हो जाती है ३/ जो वामदेव के मार्ग का अनुसरण करते हैं उनका जन्ममरण चलता रहता है और शनैः शनैः योग, भक्ति तथा शक्ति के अभ्यास द्वारा कई जन्मों में अभ्यास करते-करते पूर्णता की प्राप्ति करते हैं। 'अनेक जन्म संसिद्धि ततो याति परां गतिम्'। —गीता।

किसी भी प्रकार की साधना की जाय, सभी का लक्ष्य प्राण जय होता है। प्राणवायु का निरोध करने से केवली कुम्भकावस्था आती है, जिससे साधक में संयम (धारणा ध्यान समाधि की एकत्र स्थिति) सिद्धि की सामर्थ्य आती है। प्राण जय से मनोजय स्वतः हो जाता है। हठयोग प्रदीपिका आदि ग्रन्थों में प्राण जय साधना के लिए निरन्तर अभ्यास पर बल दिया गया है। क्योंकि 'क्रियैव कारणं सिद्धेः' क्रिया द्वारा ही कर्म में सिद्धि होती है। योग क्रिया के लिए साधक को जनरहित एकान्त स्थान चुनना चाहिए जहाँ साधना निर्विघ्न पूर्वक हो सके तथा उस पर किसी की दृष्टि न पड़े। हमें एक ऐसे साधक मिले जो अपनी साधना इतनी गुप्त रीति से करते थे कि उनकी धर्म पत्नी भी उनके बारे में नहीं जानती थी। वे अपनी धर्म पत्नी को सिनेमा और आमोद-प्रमोद में बेरोक टोक जाने देते तथा मन्दिर पूजा आदि के नाम पर अपनी अरुचि दिखाया करते। वे घर के सब लोगों को सुलाकर एकान्त में पड़ने के

नोट—१. 'कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।' योगसूत्र २/४३

२. द्वाविमावपि पन्थानौ ब्रह्मप्राप्तिकरौ शिवौ।
सद्योमुक्ति प्रदश्चैकः क्रममुक्तिप्रदः परः ॥ वराहोपनिषद् ४२।

३. शुकं मार्गं येऽनुसरन्ति धीराः, सद्योमुक्तास्ते भवन्तीह लोके ॥ वही /३४

नहाने चले जाते और रात्रि भर जगकर साधना किया करते थे। हमारे सम्पर्क में आने पर उनकी परवालों को उनकी साधना की उच्चावस्था का ज्ञान हुआ। साधना जितनी गुप्त रहती है—उतनी ही ओजस्वी तथा शीघ्र सफल होने वाली होती है।

साधक को योगसिद्धि के लिए युक्ताहार विहार तथा युक्त चेष्ट तथा युक्त कर्म परायण के साथ-साथ युक्त स्वप्न तथा जागरणशील होना चाहिए। गीता में भगवान योगेश्वर श्रीकृष्ण ने साधक अर्जुन को जो उपदेश दिया, उसमें 'युक्त' शब्द विचारणीय है। साधक को ध्यान परायण रहकर भोजन, गमन, शयन, जागरण आदि सारी चेष्टायें तथा क्रियायें करनी चाहिए। अतः सोते-जागते मंत्र जप होता रहे तभी वह 'युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु। युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।' की स्थिति को सार्थक कर सकेगा। जिसका मन हरक्षण अपने इष्ट में रमता है वही 'युक्तावस्था' का साधक होता है। साधक को आहार के सम्बंध में बहुत सावधान रहना चाहिए, क्योंकि पेय, भोज्य, लेह्य तथा चोष्य—चारों प्रकार के आहार से तीन प्रकार के शरीर—कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल निर्मित होते हैं। उन शरीरों के अन्दर जितनी शुचिता होगी, उतना ही सतोगुण का उत्कर्ष होने के कारण प्राणों का उच्चभूमिकाओं पर उत्क्रमण सहजता से हो जायगा तथा ध्यान समाधि अत्यन्त सुलभ हो जायगी। भोजन में स्वच्छता के साथ पवित्रता भी अति आवश्यक है। साधक के लिए भोजन का नियम है—

हितं मितं च भोक्तव्यं

स्तोकं स्तोकमनेकधा।

घी, दुग्धयुक्त मधुर हितकारी भोजन थोड़ी मात्रा में अनेक बार खाना चाहिए जिससे उसके पाचन में प्राणशक्ति अधिक व्यय न हो। युक्ताहार के साथ-साथ साधक को अपनी प्राण-शक्ति व्यर्थ की बातों में नष्ट नहीं करनी चाहिए। साधक को मौन रहने का अभ्यास करना चाहिए। व्यवहार चलाने के लिए सारयुक्त कम से कम शब्दों के द्वारा अपनी बात कहनी चाहिए। वाणी का संयम तथा रसना का संयम करने से प्राण एवं वीर्य की शुद्धि होती है। रसना में ही वाक् इन्द्रिय रहती है। अन्य सभी इन्द्रियों का एक-एक ही कार्य है किन्तु रसनेन्द्रिय वागेन्द्रिय के रूप में कर्म तथा ज्ञान दोनों की इन्द्रिय है। अतः इसके संयम से साधक सत्य प्रतिष्ठित एवं ब्रह्मचारी हो जाता है। रसनेन्द्रिय जलतत्व से बनी है तथा जननेन्द्रिय भी जल तत्व से बनी है। अतः एक से दूसरी प्रभावित होती है। इसीलिए प्रायः यह देखा जाता है कि जो बहुत चाट-पकौड़ी खाता है उसका ब्रह्मचर्य नहीं रह पाता। जो ब्रह्मचारी होता है

उसकी आहार शुद्धि सहज होती है। इसी प्रकार वागेन्द्रिय अग्नि तत्व से निर्मित है। चक्षुरिन्द्रिय भी अग्नि तत्व से निर्मित है जो बहुत वाचाल होते हैं उनकी दृष्टि भी चञ्चल होती है। ऐसे साधकों को मन की एकाग्रता नहीं हो सकती। श्रीमद्भागवत् में इसीलिए कहा गया है—'जिते रसे जितं सर्वम्'। जिसने रसनेन्द्रिय तथा वागिन्द्रिय को जीत लिया वह त्रिभुवन को जीतने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है—अर्थात् उसे योग सिद्ध हो सकती है भगवान सदाशिव ने शीघ्र योग सिद्धि के कुछ उपायों का कथन किया है। यथा साधक को नित्य योग सिद्धांतों का श्रवण करना चाहिए। वैराग्य भाव से वह घर में रहे। सदा मंत्र जप तथा कीर्तन करते हुये—वह शुभ वार्ता ही सुने। धृति, क्षमा, तप, शौच, लज्जा तथा गुरु सेवा का व्रत लेकर अपने साधन में तत्पर रहने वाले साधक को शीघ्र योग सिद्धि हो जाती है। योगी को दायें स्वर के चलने पर भोजन तथा बांये स्वर के चलने पर शयन तथा दोनों स्वर चलने पर ध्यान करना चाहिए।

योगसिद्धि के लिए योगी साधक को केवल कुम्भक का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए तथा उड्डियानबन्ध, सिद्धासन पद्मासन सिद्ध-रीति से करने चाहिए। यह रीति सिद्धानुकम्पा से प्राप्त होती है। पुस्तकों या आज के योग शिक्षकों के पास यह नहीं मिल सकती। केवल अधिकारी को ही देने का शास्त्र नियम है अतएव यहां उसका उल्लेख नहीं किया जा रहा। इसके अतिरिक्त पश्चिमोत्तान आसन, सर्वांगासन, विपरीतकरणी मुद्रा, योनिमुद्रा, महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध तथा खेचरी भूचरी वज्रोली अमरोली आदि मुद्राबन्ध आसन तथा क्रियाओं का अभ्यास सिद्धयोग-पद्धति से करना चाहिए। सिद्धों की अनुकम्पा प्राप्त कर जो योग चलता है उसे सिद्धयोग कहते हैं। उसकी विशेष पद्धति होती है। दीक्षा के बाद ही साधक उस पद्धति का अभ्यास कर सकता है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने पर साधक क्रमशः परिचया-वस्था, घटावस्था तथा निष्पत्त्यवस्था के सोपानों पर आरूढ़ होता चला जाता है।

योग सिद्धि के लिए आवश्यकता इस बात की है कि योगी साधक गुरूपदिष्ट आसन, बन्ध तथा मुद्राओं से नाड़ी शोधन कर ले तथा प्राणों की पश्चिमगति कर केवली कुम्भक की स्थिति दृढ़ कर ले। आगे सारी भूमिकाएं श्री गुरुदेव की कृपा से अपने आप स्पष्ट होती जायेंगी। परिचयावस्था में प्राण सूर्य और चन्द्रनाड़ी को छोड़कर निश्चल होकर सुषुम्ना विवर में प्रविष्ट हो जाते हैं। योगी की एका-ग्रावस्था दृढ़ होने लगती है। उस समय योगी अपने कर्मविपाक को जानने लगता है तथा प्रणव-

जप द्वारा कर्म विपाक का नाश करने की सामर्थ्यवाला बन जाता है। इस अवस्था में योगी पंचभूतों की धारणा दृढ़ करके पंचभूत० के भय से मुक्त हो जाता है।

मेधावी सर्वभूतानां
धारणां यः समभ्यसेत् ।
शतब्रह्म मृतेनापि
मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥
शिव संहिता ३/७८

जब योगी मूलाधार चक्र में प्राणवायु को दो घण्टे धारण कर अन्य सभी चक्रों में भी दो-दो घण्टे धारणा करने का अभ्यास परिपक्व कर ले तो वह भूत जयी बन जाता है। सौ ब्रह्माओं का मृत्युकाल पूर्ण होने पर भी उसे मृत्यु नहीं मार सकती।

इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते-करते मन्द अधिकारी भी योग सिद्ध बन जाया करता है। आवश्यकता इस बात की है कि साधक कुछ कुर्बान करने को तैयार हो। जो भाग्य भरोसे हाथ पर हाथ रखे बैठा रहता है उसका भाग्य सो जाता है। जो जागृत रहता है तथा कुछ करता रहता है उसको मदद ईश्वरीय शक्ति करती है—

'हिम्मते मरदां मददे खुदा ।'

जो कुछ खर्च करने की हिम्मत रखता है उसे अच्छा सौदा भी मिल जाता है। सब से बड़ी बात यह है कि श्री गुरुदेव के वचनों पर विश्वास कर भजन में मगन हो जाय। साधकों के हितार्थ श्री गुरुदेव का आदेश है कि स्वस्थ रहने तथा नाड़ी शुद्धि के लिए हर साधक को 'जीवनतत्त्व' क्रियाओं का नियम से अभ्यास करना चाहिए। तथा प्रतिदिन दो घण्टे जप एवं एक घण्टे ध्यान करना चाहिए। जो इतना जप करने लगता है उसे अनुभूतियाँ होने लगती हैं। जो साधक परनिन्दा तथा दूसरों को सुधारने के चक्कर में पड़े रहते हैं वे सब मिलने पर लुटे हुए की तरह खाली बन जाया करते हैं। अतः इस अमूल्य जीवन को सार्थक बनाइये।

❀ ग्राहक और पाठकों से ❀

'सिद्धयोग' का प्रवेशाङ्क विशेषाङ्क जो वर्ष १८ का प्रथम अङ्क है—उन सभी ग्राहकों को जिनका २५ रु० वार्षिक मूल्य प्राप्त हो चुका है, बड़ी सावधानी से उनके ठीक पते पर भेजा गया है। डाक की गड़बड़ी से अङ्क न मिलने पर अपने स्थानीय डाकखाने से पूछताछ करना चाहिए। गुम हो जाने पर कार्यालय से दूसरी प्रति तभी भेजी जावेगी—जब ग्राहक बन्धु डाकघर के उत्तर सहित हमें अपना अङ्क न मिलने की शिकायती पत्र हमें देंगे। वी० पी० से सिद्धयोग उन्हीं को भेजा जायगा जो स्पष्ट रूप से हमें वी० पी० से भेजने का लिखित आग्रह करेंगे। इसमें ५ रुपये के लगभग अधिक व्यय भी वी. पी. से मँगाने वालों पर ही पड़ेगा। अतः मूल्य मनीआर्डर से भेजना ही उचित रहेगा।

—व्यवस्थापक

मन की शुद्धि

श्रीमती सरिता भारद्वाज
एम. ए. बी. एड. आचार्य

मन से भिन्नता हो जाने पर मन हमें सब कुछ प्राप्त करा सकता है। सारा संसार मन की ही तो रचना है। मन ने जिसे अपना मान लिया वह दूर और दुःसाध्य होकर भी अपना हो जाता है और जिसको अपना नहीं माना वह अपना होकर भी पराया बन जाता है। सन्तों ने कहा है कि मन भेदिया है। यह पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों का स्वामी है। इसकी आज्ञा के बिना इन्द्रियाँ टस से मस नहीं होती। यदि मन साथ न हो तो आँखें सुन्दर रूप को होते हुये भी नहीं देख पाती। मन यदि कहीं और चला जाय तो रसीले शब्द भी कानों को आकर्षित नहीं कर पाते। दूसरी ओर बुद्धि और प्राण का सम्बन्ध इन्द्रियों से और इन्द्रियों का सम्बन्ध बुद्धि और प्राण से जोड़ने का काम मन ही करता है। मन यदि अनुकूल नहीं है तो बुद्धि का और मन का समीकरण गलत हो जायगा। तर्क, संशय, संकल्प-विकल्प और भ्रम बुद्धि और मन के परस्पर प्रतीप होने से ही होते हैं। यदि मन अनुकूल हो जाय तो बुद्धि में सत्य की प्रतिष्ठा हो जाती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा विवेक ख्याति मन की परम एकाग्रता की स्थिति का परिणाम है। इसी तरह मन और प्राण अनुकूल स्थिति में रहें तो सहज समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है। यदि मन में वृत्ति प्रवाह बढ़ जाय तो प्राणों में क्षोभ पैदा होकर, श्वास-कास, हृद्रोग, दमा, प्रमेह, अर्श, रक्तचाप, विक्षिप्तशूल तथा राजयक्ष्मा जैसे भयानक रोग हो जाते हैं।

मन में जब तक मल होता है तब तक वह स्थिर नहीं हो पाता। कुटिलता, कपट, छल, राग तथा द्वेष ही मन के मल हैं। प्रारब्ध और संचित कर्मों के संस्कार मन के मल हैं। कर्माशय के वश में इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण हो जाते हैं। आसक्ति तथा अहङ्कार कर्माशय तथा मन का सम्बन्ध जोड़ने वाली कड़ी है। जब मन प्राक्तन संस्कारों को स्मरण करता है तथा भविष्य के सुख और विषयों की चिन्ता करता है तो स्मृति और चिन्ता से मन क्षिप्त भूमिका पर रहता है। जिस अवस्था में मन के संकल्प-विकल्प मिट जाते हैं, स्मृति ज्ञात विषयक न रहकर अज्ञात विषयक हो जाती है। चिन्ता के स्थान पर सतत् मन में प्रशान्तवाहित वृत्ति प्रवाहित होने लगती है तभी मन निरुद्ध और समाहित स्थिति का आनन्द प्राप्त कर लय हो जाता है। जिस प्रकार सेनानायक के बिना सेना हतोत्साहित होकर निष्प्रभाव हो जाती है उसी प्रकार मन के दिव्यस्वरूप में या प्राणों में लय हो जाने पर इन्द्रियाँ अस्तित्व हीन हो जाती हैं-जिससे सारा प्रपञ्च नष्ट प्राय सा निरर्थक हो जाता है और अन्तर्मुखी वृत्ति के परिणाम स्वरूप

प्रत्यक् चैतन्य की प्रतीति होने लगती है। योगशिखोपनिषद् में महेश्वर ब्रह्मा को उपदेश करते हैं:—

> चित्ते चलति संसारो
> निश्चलं मोक्ष उच्यते।
> तस्माच्चित्तं स्थिरी
> कुर्यात् प्रज्ञया परया विधे॥
> ६/५८
>
> चित्तं कारणमर्थानां
> तस्मिन् सति जगत्त्रयम्।
> तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं
> तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः॥
> —६/५९

अर्थात् चित्त के बाह्य विषयों के संयोग से चञ्चल होने पर संसार के सुख दुःखादि का भोग होता है। मन यदि निश्चल हो जाय तो वही मुक्ति है। अतः विवेकख्याति से चित्त को स्थिर करना चाहिए। चित्त की चञ्चलता ही भेद बुद्धि तथा विषय जगत् का सृजन करती है। जहां चित्त की या मन की चञ्चलता मिटी कि जगत् अपने कारण में विलीन हो गया। 'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।' गीता में भगवान श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं कि गुणों का गुणों में लय कर बेफिक्र हो जाओ। मन को निर्मल करने का अभिप्राय भी यही है कि मन को विषयों से हटाकर चेतन आत्म तत्व की ओर लगा दिया जाय। मन क्रमशः क्षिप्त से परिष्कृत होकर विक्षिप्त बनता है जहां चञ्चलता पहले की अपेक्षा कुछ कम होती है किन्तु पाप पुण्य के कर्मों का चक्र चलता ही रहता है। विक्षिप्त के पश्चात् एकाग्रता की स्थिति आती है जहां मन की चञ्चलता रुक सी जाती है। यहां स्थित होकर मन स्वयं का ही द्रष्टा बनकर वृत्ति-शून्य हो जीवात्मा स्वरूप स्थिति में स्थित होता है। सर्व संकल्प शून्य मन की एकाग्र तथा निरुद्ध अवस्था ही सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि है।

महासागर में अनन्त तरंगें उठती हैं। वे तरंगें वायु की चञ्चलता से उठा करती हैं। वायु के शान्त हो जाने पर तरंगें स्वतः शान्त हो जाती हैं और समुद्र के जल से अतिरिक्त कुछ भी दृश्य नहीं रहता। उसी प्रकार मन के संकल्प-विकल्प तथा प्राण के कर्माशय जन्य कर्म प्रवाह के क्षोभ के शान्त होने पर योगी समाधि निष्ठ बन जाता है। जब मन में वासना रूप वायु नहीं रहेगी तो शुद्ध चेतन सागर में तरंग रूपी चञ्चलता स्वयं नहीं रहेगी। अहंबुद्धि तथा भूतकालीन सुखों की स्मृति की आसक्ति तथा भविष्य में उन सुखों की प्राप्ति की इच्छा मन को भूत और भविष्य की ओर खींचा करती है। यही मन का संकल्प विकल्प है। यदि यह मन वर्तमान में रहना सीख ले तो यही मुक्ति का स्वरूप बन

जायगा। मन की गति को देखने का अभ्यास करना, दृष्टाभाव रखना मुक्ति पथ है। 'मनसा मन आलोक्य, मुक्तोभवति योगवित्' जब मन में मल नहीं रहते तो मन अपने को ही देखा करता है। उस समय बाह्य प्रपञ्च तथा उसके सम्बन्ध से होने वाले संस्कार नहीं बनते। अपने ही कर्मों का बहीखाता खुल जाता है, जिसको देख लेने से उनका भोग हो जाता है। और 'सोऽहम्' प्रत्यय का आत्मा में उदय होता है।

ध्यान मन का विषय रहित होना है।— 'ध्यानं निर्विषयं मनः।' विषयों के साथ मन विषयाकार हो जाता है और आत्मा के साथ आत्माकार हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जैसे जल हरे गिलास में रखने से हरा लगने लगता है और सफेद में रखने से सफेद लगता है। मन का मल दूर होना ही गंगा स्नान है तथा इन्द्रियनिग्रह ही शौच है। समाधि भावना से मन का मल दूर हो जाता है तो हरि भक्त के पीछे-पीछे भागते हैं। कबीर कहते हैं :—

जब मनुआ निर्मल भया,
जैसे गंगा नीर।
पाछे-पाछे हरि फिरै,
कहत कबीर-कबीर।।

❀ राम-नाम महिमा ❀

राम राम के नाम को, जहाँ नहीं लवलेश।
पानी तहाँ न पीजिये, परिहरिये सो देस।।
राम नाम जिन जानिया, तेई बड़े सपूत।
एक राम के भजन बिन, जाया फिरै कपूत।।
जहाँ न कबहूँ जाइये, जहाँ न हरि का नाम।
दिगंबर के गाँव में धोबी का क्या काम।।
राम नाम एकै रती, पाप के कोटि पहार।
ऐसी महिमा नाम की, जारि करै सब छार।।
राम नाम औषध करो, हिरदै राखो याद।
संकट में जो गाइये, दूरै सबन की व्याध।।
धर्महि का सौदा भला, दाया जग व्योहार।
राम नाम की हाट ले, बैठा खोल किवार।।
औरहि चिन्ता करन दे, तू मत मारे आह।
जाके मोदी राम से, ताहि कहा परवाह।।
सबहू ते प्यारे अधिक, मानै मोही राम।
बिन हरि नाम नहीं मुझे, और किसी से काम।
कहु मलूक हम जबहिं तें, लीन्हीं हरि की ओट।
सोवत है सुख नींद भरि, डारि भरम की पोट।।
गाँठी सत्त कुपीन में, सदा फिरै निःशंक।
नाम अमल माता रहै, गिनै इन्द्र को रंक।।

— सन्त मलूकदास

कर्मकाण्ड एवम् योग

श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

भारतीय संस्कृति अनादिकाल से कर्मकाण्ड से अनुप्राणित रही है। कर्मकाण्ड का आधार वेद हैं। वेदों में साधना के तीन भाग किये गये हैं :—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड। इनमें से कर्मकाण्ड का भारतीय जन-जीवन में विशेष महत्व है। क्योंकि—हिन्दुओं के सभी संस्कार और परम्परायें कर्मकाण्ड पर ही आधारित हैं। इसके अतिरिक्त हमारे समाज में प्रचलित सभी प्रकार की उपासनाओं का आधार कर्मकाण्ड ही है।

उपनिषदों में कर्मकाण्ड को कर्म-योग का ही एक अंग माना गया है और कहा गया है, कि—कल्याणकामी मनुष्य को सभी प्रकार की कामनाओं को त्यागकर, फल की इच्छा न रखते हुए निरभिमान होकर ईश्वर प्रीत्यर्थ ही शास्त्रों में विधान किये गये कर्मों को करना चाहिये। इस प्रकार निष्काम भाव से किये जाने वाले कर्म साधक को योगारूढ़ बनाकर उसकी मुक्ति के साधन बन जाते हैं। इसके विपरीत सकाम भाव से अहंकार पूर्वक किये गये यज्ञ व पवित्र कर्म भी उसके बन्धन के कारण बन जाते हैं। देवताओं और पितरों का पूजन, दर्श-पौर्णमास आदि अठारह प्रकार के यज्ञ, पुराणों का पारायण, व्रत-उपवास, शतचण्डी यज्ञ, सहस्र चण्डी यज्ञ, रुद्राभिषेक तथा वेदोक्त और तन्त्रोक्त मन्त्रों का जाप एवं पुरश्चरण ये सभी क्रियायें कर्म-काण्ड के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। कर्मकाण्ड की ये सभी क्रियायें साधक को लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के इच्छित भोगों को प्रदान करने में समर्थ होती हैं, किन्तु उसे परमेश्वर की प्राप्ति रूप शाश्वत सुख नहीं दे सकतीं। यदि कोई विवेकशील पुरुष फल की इच्छा न रखते हुए ईश्वरार्पण बुद्धि से ईश्वर प्रीत्यर्थ ही उपरोक्त कर्मों को करता जाता है तो कालान्तर में पुण्य बढ़ जाने के फलस्वरूप उसे सिद्धसंपत्ति और पवित्र योगमार्ग मिल जाता है, जिसमें वह संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार योगसिद्धान्तों का पालन करते हुए की जाने वाली कर्मकाण्ड-सम्बन्धी क्रियायें भोग के साथ-साथ अपवर्ग की दात्री भी हैं।

जो मनुष्य अत्यन्त ममता एवं आसक्ति पूर्वक सांसारिक भोगों अथवा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के निमित्त कर्मकाण्ड की विधि से

अनुसार। करता है वह अपने उन पुण्यों के फल-स्वरूप इस लोक के भोगों को भोगकर मरणोपरान्त स्वर्गलोक में जाता है। जितने उसके पुण्य होते हैं उतने काल तक वह वहाँ के भोगों को भोगता है और पुण्य क्षीण हो जाने पर उसे पुनः इस मनुष्य लोक में ही लौटना पड़ता है। मुण्डकोपनिषद में यह बात सविस्तार समझायी गयी है। जैसे :—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं,
　　नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनु-
　　भूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥
　　　　मु० १/२/१०

वेदों में विधान किये गये यज्ञ-यागादि सकाम कर्मों को और धर्मशास्त्र में बताये गये धर्मार्थ किये जाने वाले दानादि कर्म को ही सुख का सर्वश्रेष्ठ साधन समझने वाला लोग अत्यन्त मूर्ख हैं। वे उससे भिन्न श्रेयमार्ग को अर्थात् कल्याण के वास्तविक साधन ध्याना-भ्यास एवं निष्काम कर्मयोग को नहीं जानते और उस ओर प्रवृत्त नहीं होते। अतः वे अपने पुण्यों के फलस्वरूप स्वर्ग के उच्चतम स्थान में जाकर और वहाँ के भोगों को भोगकर पुण्य क्षीण हो जाने पर इस मनुष्य लोक में अथवा इससे अत्यन्त निकृष्ट सूकर-कूकर आदि योनियों में प्रवेश करते हैं।

(मुण्डकोपनिषद-१/२/१०)

यह भी जरूरी नहीं है कि—यज्ञयागादि सकाम कर्मों को करता हुआ मनुष्य उसके फलस्वरूप स्वर्ग को प्राप्त कर ही लेगा, क्योंकि यज्ञ के किसी अंग की कमी होने अथवा कर्म-काण्ड की थोड़ी सी त्रुटि रह जाने पर यज्ञ-कर्ता के सारे पुण्य समाप्त हो जाते हैं और वह पुण्य के स्थान पर पाप का भागी बनता है। यह बात दूसरे अध्याय के तीसरे मन्त्र में बताकर इसी बात को स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है :—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा,
　　अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा,
　　जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥

अर्थात् जिनमें नीची श्रेणी का सकाम कर्म बताया गया है, ऐसी ये यज्ञरूप अठारह नौकाएँ हैं जो कि—संसार सागर को पार करने के लिये सुदृढ़ नहीं हैं। जो मूर्ख लोग इन सकाम कर्मों को ही सुख का आधार तथा कल्याण का एक मात्र उपाय समझकर इनकी प्रशंसा करते रहते हैं और इन्हीं में लगे रहते हैं उन्हें निस्सन्देह बार-बार वृद्धावस्था और मृत्यु का दुःख भोगना पड़ता है। वे जन्म-मरण के चक्र से कभी छूट नहीं पाते।

(मुण्डकोपनिषद—१/२/७)

अविद्यायां　बहुधा　वर्तमाना,
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो　न　प्रवेदयन्ति रागात्—
तेनातुराः　क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥

लौकिक और पारलौकिक भोगों की प्राप्ति के निमित्त नाना प्रकार के सकाम कर्मों में ही बहुत प्रकार लगे रहने वाले अविद्याग्रस्त मूर्ख लोग ऐसा अभिमान कर बैठते हैं कि हमने सब कुछ कर लिया है और हम कृतार्थ हो गये हैं। क्योंकि वे सकाम कर्म करने वाले मनुष्य विषयों में अत्यन्त आसक्ति के कारण कल्याण के यथार्थ मार्ग (योगमार्ग) को जान ही नहीं पाते। अतः परमानन्द स्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति के निमित्त प्रयत्न न करके बारम्बार दुःखी होते रहते हैं और पुण्य का फल पूरा होने पर स्वर्गादि लोकों से हटाये जाकर नीचे के लोकों में गिर जाते हैं।

(मुण्डकोपनिषद्-१/२/९)

अखिल ब्रह्माण्ड नियन्ता योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए गीता में अपने मुखारविन्द से कहा है :—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिम् प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥

(गीता ९/२०

तीनों वेदों में विधान किये गये कर्मकाण्ड पर अतिशय प्रेम और श्रद्धा रखते हुए सकाम भाव से यज्ञादि पवित्र कर्मों को करने वाले सोमरस को पीने वाले एवं पापों से पवित्र हुए पुरुष मुझ परमेश्वर को यज्ञों द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति को चाहते हैं। वे लोग अपने उन पुण्यकर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग लोक को प्राप्त करके वहाँ देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना,
गतागतं कामकामा लभन्ते॥

(गीता ९/२१)

वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर और पुण्यक्षीण हो जाने पर पुनः मृत्युलोक में ही प्रवेश करते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में बताये हुए स्वर्ग के साधन रूप सकाम कर्मों का आश्रय लिये हुए भोगों की कामना वाले मनुष्य बार-बार जन्म-मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं। अर्थात् पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः मृत्यु लोक में आ जाते हैं।

यहाँ यह शंका पैदा हो सकती है कि यदि ऐसी ही बात है तो मनुष्य को किसी भी प्रकार का पूजापाठ एवं यज्ञ आदि कर्म नहीं करने चाहिए। इसका समाधान गीता के १८वें अध्याय में किया गया है। भगवान कहते हैं :—

यज्ञदान तपः कर्म
न त्याज्यं कार्यमेव च।
यज्ञो दानं तपश्चैव
पावनानि मनीषिणाम्॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं
त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ
निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने नहीं हैं, इन्हें अवश्य करना चाहिये । क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र बनाने वाले होते हैं । यह यज्ञ, दान एवं तप तथा और भी समस्त श्रेष्ठ कर्मों को आसक्ति और फल-इच्छा को त्यागकर करना चाहिये । ऐसा मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है ।

इन श्लोकों में यह संकेत किया गया है कि उपरोक्त कर्म बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र बनाने वाले होते हैं किन्तु भोगासक्त अज्ञानी पुरुषों के लिये वे ही कर्म बन्धन के कारण बन जाया करते हैं । कर्म करते हुए उसके फल में ममता और आसक्ति न रखना हर मनुष्य के वश की बात नहीं है । कर्म मीमांसा को समझने वाला ज्ञानी पुरुष अथवा योग परायण साधक ही ऐसा करने में समर्थ हो सकता है ।

योग का स्थान कर्मकाण्ड से बहुत ऊँचा है । गीता में कहा गया है :—

जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्दब्रह्मातिवर्तते ।

योग का जिज्ञासु अर्थात् योग में श्रद्धा रखता हुआ उसकी प्राप्ति के लिये चेष्टा करने वाला एक साधारण सा योग साधक भी कर्मकाण्ड से प्राप्त होने वाले इस लोक और परलोक के भोग जनित सुखों को पार कर जाता है । कर्मकाण्ड के समस्त फल उसे अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु वह उनकी आकांक्षा नहीं रखता । वह इन अनित्य सुखों की उपेक्षा करता हुआ सच्चिदानन्द परमेश्वर की प्राप्ति रूप स्थायी सुख की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है । मरणोपरान्त उसे भी उत्तम स्वर्गलोक की प्राप्ति हो जाती है और वह दीर्घकाल तक स्वर्गादि उत्तम लोकों में वास करके और फिर इस मनुष्य लोक में पवित्र धनवानों अथवा योगियों के कुल में जन्म लेता है । उसे पवित्र योगमय वातावरण मिल जाता है । पिछले जन्म में किये गये योगाभ्यास के संस्कारवश उसे जन्म से ही योग में रुचि होती है निरन्तर अभ्यास करता हुआ वह कुछ काल में ही यौगिक ऐश्वर्य से सम्पन्न हो जाता है और आनन्द के असीम सिन्धु परमेश्वर को पाकर आनन्द में ही निमग्न हो जाता है तथा कर्म बन्धन क्षीण हो जाने से वह आवागमन के चक्र से सदा-सदा के लिये छूट जाता है ।

उपनिषदों में योग को ही मोक्ष का एकमात्र साधन बताया गया है । योगशिखोपनिषद में कहा है :—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि
धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः ।

बिना योगेन देवेन
न मोक्षं लभते विधे ॥

मनुष्य चाहे ज्ञानी हो, विरक्त हो, धर्मात्मा हो या जितेन्द्रिय हो किन्तु योग के बिना उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

योगतत्त्वोपनिषद का कथन है कि—कैवल्य-रूपी परम पद योग से भिन्न अन्यान्य मार्गों का आश्रय लेने से प्राप्त नहीं हो सकता। कोरे शास्त्र ज्ञान से भी परमात्मा तत्व को नहीं जाना जा सकता। आत्मज्ञान ही कल्याण का साधन है। अतः मुमुक्षु को योगनिष्ठ हो कर आत्म ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

योगहीनं कथं ज्ञानं
मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न
भवेन्मोक्ष कर्मणि ॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च
मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥
(योगतत्त्वोपनिषद १४/१५)

योगरहित ज्ञान किस प्रकार मोक्ष का देने वाला हो सकता है। ज्ञान रहित योग से भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले को ज्ञान और योग दोनों का दृढ़तापूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

ब्रह्मविद्योपनिषद् में कहा गया है कि—परमार्थ के पथिक को योगप्राप्ति के निमित्त ही ज्ञानार्जन करना चाहिये, उसी में ही उलझे नहीं रहना चाहिये। जैसे:—

उल्काहस्तो यथा कश्चिद्
द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत् ॥
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य
पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत् ॥

जिस प्रकार किसी अन्धेरे कमरे में रखी हुई वस्तु को मनुष्य हाथ में टार्च लेकर उसके प्रकाश की सहायता से ढूंढता है और जब उसे वाञ्छित वस्तु मिल जाती है तब वह टार्च को एक ओर रख देता है। उसे उसकी फिर अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि—ज्ञान द्वारा जानने योग्य तत्व परमेश्वर का साक्षात्कार करके फिर ज्ञान को भी छोड़ दे।

इस एकार ज्ञान भी योगारूढ़ता का साधन मात्र है, साध्य नहीं।

कर्मकाण्ड में क्रिया की प्रधानता रहती है, ज्ञान और योग को उसमें महत्व नहीं दिया जाता तथा शास्त्रोक्त सभी कर्म संकल्प पूर्वक इस लोक और परलोक के सुखों की कामना को लेकर किये जाते हैं। अतः संकल्प के अनुरूप ही वे फल के दाता होते हैं। भोगों की आपातरमणीयता से आकृष्ट होकर जन साधारण स्वाभाविक ही इस मार्ग में प्रवृत्त होता है। अतः इसे प्रवृत्ति मार्ग कहा जाता है। वेदों में कर्मकाण्ड की गणना प्रेयमार्ग में की गई है और यह स्पष्ट निर्णय किया गया है कि—यह मार्ग मनुष्य के परम कल्याण का

साधन नहीं है। जैसे :—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति,
हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।

(कठ० उप० १/२/१)

कल्याण का साधन अलग है और प्रिय लगने वाले भोगों का साधन अलग ही है। वे भिन्न-भिन्न फल देने वाले दोनों साधन मनुष्य को अपनी अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उन दोनों में से कल्याण का साधन अर्थात् योग साधन अपनाने वाले मनुष्य का तो हर प्रकार से कल्याण हो जाता है। वह हर प्रकार के दुःखों से सर्वथा छूटकर नित्य आनन्दस्वरूप परमेश्वर को पा जाता है।

परन्तु जो प्रियमार्ग को अर्थात् सांसारिक भोगों के साधन रूप सकाम कर्म के मार्ग को अपनाता है वह परमार्थ की प्राप्ति रूप यथार्थ लाभ से वंचित रह जाता है।

इस प्रकार कर्मकाण्ड का मार्ग प्रवृत्ति मार्ग है। यह मार्ग मनुष्य के परम कल्याण का साधन नहीं है। यहां पाठकों के मन में यह प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक है कि—यदि कर्मकाण्ड परमार्थ का साधन नहीं है तो वेदोंमें, धर्मशास्त्र में एवं पुराणों में इसका विधान क्यों किया गया है ?

इसका उत्तर है—हमारे अनुभवी ऋषियों ने जन्म-जन्मान्तर से भटके हुए जीव को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर चलाने तथा उसे मानव जीवन के वास्तविक लक्ष्य मोक्ष द्वार तक पहुँचाने के लिये अधिकारी भेद से विविध साधन बताये हैं, उन साधनों में कर्मकाण्ड भी एक महत्वपूर्ण साधन है। यद्यपि मोक्ष का साधन योग मार्ग ही है किन्तु बिना पुण्य के पहले तो योग मार्ग हर व्यक्ति को मिलता ही नहीं करता और यदि मिल भी गया तो इस मार्ग में उसकी प्रगति भी उसके पुण्यों पर निर्भर करती है। विरले सौभाग्यशाली पुण्यात्मा ही अपने संचित पुण्यों के फलस्वरूप योग मार्ग के अनुगामी बना करते हैं। आम लोगों की तो इस मार्ग में प्रवृत्ति होती ही नहीं।

कर्मकाण्ड मनुष्य को क्रियाशील बनाता है और उसके पुण्यों को बढ़ाता है। संसार के प्रत्यक्ष सुखों तथा स्वर्गादि लोकों के सुखों की कामना से जन साधारण स्वाभाविक ही इस मार्ग में प्रवृत्त हो जाता है। जिस प्रकार माता अपने बालक को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर चलाने के लिये उसे कई प्रकार के प्रलोभन देती रहती है और अन्त में उसे प्रगति पथ पर आरूढ़ करा देती है। इसी प्रकार वेदों एवं धर्मशास्त्र में विधान किये गये कर्मकाण्ड का भी यही उद्देश्य है कि—लोग मनमाने आचरण से हटकर मर्यादा का पालन करते हुए पूर्ण सदाचारी बन जावें और योग के उत्तम

उत्तम अधिकारी बनकर अपने आत्मा का उद्धार कर सकें ।

इसके अतिरिक्त कर्मकाण्ड भी अष्टाङ्ग-योग का ही एक बहिरंग साधन है । जिस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार ये योग के बहिरंग अंग हैं, उसी प्रकार कर्मकाण्ड को भी योग का एक बहिरंग अंग कहा जा सकता है । यद्यपि कर्मकाण्ड में यमों को विशेष महत्व नहीं दिया जाता, किन्तु शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान इन नियमों का तथा आसन और प्राणायाम का पूरा-पूरा विधान किया गया है । शौच, तप और स्वाध्याय इन तीन नियमों के पालन पर कर्मकाण्ड में विशेष बल दिया जाता है । ये तीनों ही योग प्राप्ति के उत्कृष्ट साधन हैं ।

शौच (शुचिता) को ही ले लीजिये, योग-शास्त्र के मतानुसार इस नियम का दृढ़ता-पूर्वक पालन करने से साधक को अपने शरीर में अपवित्र बुद्धि होकर उसमें भी उसकी आसक्ति नहीं रह जाती और वह सांसारिक भोगों का संग नहीं चाहता । इस प्रकार वैराग्य के भाव पुष्ट हो जाने से वह समाधि अधिकारी बन जाता है ।

तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को योगदर्शन में 'क्रियायोग' के नाम से वर्णित किया गया है और इस क्रियायोग को अविद्यादि क्लेशों को दूर करने तथा समाधि सिद्धि का सरलतम साधन बताया है । "द्वन्द्व सहनं तपः" इस परिभाषा के अनुसार—सर्दी गर्मी, भूख—प्यास आदि के जोड़े को सहन करना 'तप' कहलाता है । कर्मकाण्ड में विधान किये गये कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि कष्ट साध्य व्रत तथा अन्यान्य सैकड़ों प्रकार के व्रत-उपवासादि ग्रीष्मकाल में पञ्चाग्नि का सेवन, शीतकाल में बिना अग्नि और बिना वस्त्र के रहना, काष्ठ मौन, आकार मौन, तीर्थाटन आदि क्रियायें उत्कृष्ट तप के परिचायक हैं । इसी प्रकार आत्मस्वरूप का बोध कराने वाले सद्-ग्रन्थों का अध्ययन एवं मनन तथा मन्त्रों का जाप "स्वाध्याय" कहलाता है । कर्मकाण्ड में मन्त्रों का जप एवं पुरश्चरण तथा वेद, उप-निषद् गीता, रामायण एवं पुराणों के अध्ययन एवं पारायण का पूरा-पूरा विधान किया गया है । अतः स्वाध्याय को कर्मकाण्ड का एक महत्व पूर्ण अंग कहा जा सकता है ।

इस प्रकार कर्मकाण्ड का मार्ग भी एक योगपरक मार्ग है । किन्तु साधक की प्रगति उसकी श्रद्धा और भावना पर निर्भर करती है । दैवी सम्पदा वाले उत्तम साधक ही शास्त्रों में विधान किये गये उपरोक्त सभी कर्मों को सात्विकी श्रद्धा से करते हुए अविद्यादि क्लेशों तथा कर्मबन्धनों से रहित होकर कैवल्य मोक्ष के भागी बन जाया करते हैं । अतः

कल्याण कामी व्यक्ति को चाहिये कि—वह अपने को कर्मकाण्ड तक ही सीमित न रखे, उससे आगे निकलने की चेष्टा करे।

योगमार्ग के अनुगामी के लिये कर्मकाण्ड का कोई महत्व नहीं रह जाता। उसे तो सकाम कर्मों का पूरी तरह त्याग कर निष्काम बनने की चेष्टा करनी चाहिये। श्रीमद् भागवत् पुराण में जगदात्मा श्रीकृष्ण का यह पवित्र आदेश है :—

निवृत्तं कर्म सेवेत
प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्।
जिज्ञासायां संप्रवृत्तो
नाद्रियेत् कर्मचोदनाम् ॥

(भागवत् पुराण—११/२०/४)

भगवान कहते हैं कि जो पुरुष मुझ परमेश्वर की शरण में हो—मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखता हो, उसे अन्तर्मुखता प्रदान करने वाले निष्काम कर्म ही करने चाहिये। उन कर्मों को बिल्कुल त्याग देना चाहिये जो सकाम हों और बहिर्मुख बनाने वाले हों। जब हृदय में ज्ञान की उत्कट अभिलाषा जाग उठे तब तो कर्म सम्बन्धी विधि-विधान का भी आदर नहीं करना चाहिये।

× × × ×

निष्कामता ही आत्मोद्धार का आधार है। कठोपनिषद का वचन है :—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते
कामाःयेऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो
भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

—आत्मा अपने लिये सदा 'अहम्' शब्दका प्रयोग किया करती है और इस अवस्थामें वह 'अहम्' स्वयंही वृत्तिमन में चमक रहा होता है, इसलिये मन की इस अवस्थामें इसका नाम अहंकार भी पड़ जाता है।

—प्रत्यग् नाम आत्मा का है, इस अवस्था में अन्तःकरण में आत्मा का भान होता है, इसी लिए वेद में मन की इस अवस्था का नाम यहां 'प्रत्यग्धाम' लिखा है।

—आत्मा अमर है और आत्मा के गुण ही इस समय मन के स्वरूप के निर्माता हैं, इसी लिए वेद-मन्त्र में इसे इस अवस्था में अमृत कहा गया है।

—स्वामी आत्मानन्द जी महाराज

यौगिक प्रश्नोत्तरी

❀ पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी द्वारा

आश्रम में शुद्ध वातावरण था। प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में इधर उधर से सत्संगी लोग आकर अपने अभ्यास में लगे हुये थे। कुछ योग शिक्षक साधक समुदाय को अपनी-अपनी कक्षाओं में योग शिक्षा देरहे थे। ध्यानाभ्यासी लोग अपने मन को ध्यानाभ्यास में लगा कर लीनता प्राप्त कररहे थे। इसप्रकार के वातावरण में थोड़ी ही देर के बाद श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की आरती का समय आया। सभी साधक समुदाय गद्गद् कण्ठ से आरती का उच्चारण करने लगा। आकाश तल पर ध्वनि निनादित हो उठी :

" चरणार विन्द
गोविन्द नमामि।
गुरुदेव शरणं
गुरुदेव नमामि॥"

श्री प्रभुजी की आरती जय-ध्वनि के साथ सम्पन्न हुयी। साधक समुदाय यथा स्थान आते आते आसनों पर बैठ गया। कुछ जिज्ञासु साधकों के मनमें तीव्रतम जिज्ञासा की भावना मन में उठी हुयी थी। वे लोग अपनी शंका निवृत्ति के लिये कुछ प्रश्न पूछना चाहते थे।

आकारां रिङ्गितैर्गत्या
चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र वक्त्र विकारैश्च
ज्ञायते अन्तःगतं मनः॥

के सिद्धान्तानुसार श्री योगाचार्य जी ने साधकों के मनो भावों को समझ लिया। और बड़ी गंभीर मुद्रा में कहने लगे भाई तुम्हारे मनों के अन्दर मुझे कुछ जिज्ञासा दिखलायी दे रही है। यदि तुम कुछ पूछना चाहते हो तो पूछो। तुम्हारे मनोभिलषित भावों को शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार समझाने का प्रयत्न करेंगे। श्री योगाचार्य जी के ऐसा आदेश देने के बाद एक जिज्ञासु साधक ने प्रश्न किया :

हे प्रभो आप कृपा करके यह बतला दीजिये कि योग किसको कहते हैं? ताकि आप के उत्तर को समझकर हम सही रूप से योगा-

नुगामी बन जायें।

उत्तर :—हे पुत्र सुनो चित्त वृत्ति निरोध को योग कहते हैं। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'चित्तवृत्तिनां निरवरोधोस योग।' अर्थात् चित्त वृत्तियों का समूलोन्मूलन ही योग कहलाता है।

प्रश्न :—हे गुरुदेव! जब चित्त वृत्तियों का समूलोन्मूलन हो जायेगा तब साधक की क्या स्थिती होगी, और चित्तवृत्तियों का आत्मा से क्या सम्बन्ध है यह बात भी खोलकर स्पष्टीकरण के साथ समझा दीजिये।

उत्तर :—हे पुत्र! सुनो आत्मा एक शुद्ध निर्मल ज्योति है। जिसमें कभी कोई विकार नहीं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम-
क्लेद्यो शोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुर
चलोऽयं सनातनः ॥

अर्थात् आत्मा बिल्कुल अच्छेद्य अभेद्य अचल अविकारी है। केवल मात्र बौद्धिक ज्ञान के द्वारा ही यह सुखी दुखी दिखलायी देता है। वस्तुतः स्वयं तो यह बिल्कुल अविकारी है।

प्रश्न :—हे गुरुदेव! कृपा करके यह बात समझाइये कि बुद्धि और आत्मा का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर :—हे पुत्र! इस बात को तुम इस प्रकार से समझ लो। आत्मा एक विकार रहित निर्मल ज्योति है और बुद्धि जड़ है। आत्मा का तेज जड़ बुद्धि पर पड़ा तो वह चेतन हो उठी। चेतन हो जाने के बाद जड़ बुद्धि ने अपना प्रभाव आत्मा पर डाला। अर्थात् बुद्धि ने अपना स्वरूप आत्मा को दिखलाया। उसका प्रभाव पड़ जाने से आत्मा अपने आपको सुखी और दुखी अनुभव करने लगा। इसीलिये आजकल की परिभाषा में आत्मा को बुद्धि जीवात्मा कहा जाता है।

प्रश्न :—हे गुरुदेव! बुद्धि जीवात्मा का क्या अर्थ है? इसका तो स्पष्ट अर्थ यही हुआ कि आत्मा पर बुद्धि का प्रभाव पड़ गया अब तो सीधे शब्दों में विकारी बन गया?

उत्तर :—हे पुत्र! ऐसी बात नहीं है। विकारी तो नहीं बन गया, किन्तु विकारी जैसा भासित होने लगा। इस बात को तुम इस प्रकार से समझो—जैसे बिजली की रोशनी हरे बल्ब के अन्दर हरी, पीले के अन्दर पीली, लाल के अन्दर लाल और काले के अन्दर काली दिखलायी देती है। इसी प्रकार आत्मा का निर्मल प्रकाश भी त्रिगुणात्मिका जड़ बुद्धि के अन्दर वैसा ही भासित होने लग गया। इसी कारण से संसार में जन्म लेने वाले व्यक्तियों को सुख दुखों की अनुभूति होती रहती है। यही जन्म और मरण

का कारण है। इसी कारण से भगवान पतंजलि देव ने—'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः।' कह करके चित्त वृत्तियों के नितराम रोध को योग बतलाया है।

प्रश्न :—हे गुरुदेव जब चित्त वृत्तियां तो रहेंगी ही नहीं ? तब आत्मा की क्या स्थिति होगी, आत्मा कैसे स्वरूप में रहेगा। अब तो आत्मा बुद्धि जीवात्मा है इसलिये सुख दुःख आदियों का अनुभव करता रहता है। जब चित्त वृत्तियें बिल्कुल होंगी ही नहीं तब हालत में आत्मा सुख-दुःख का उपभोक्ता रहेगा नहीं। तो इसका क्या स्वरूप कहलायेगा ? कृपा करके इस बात को स्पष्टीकरण के साथ आप मुझे समझा दीजिये।

उत्तर :—हे पुत्र ! तुम्हारा यह प्रश्न बिल्कुल ठीक एवं शास्त्र सम्मत है। और इसका उत्तर स्वयं भगवान पतंजलिदेवजी ने ही योग दर्शन के तीसरे सूत्र में बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में दे दिया है। वह इस प्रकार से है—

तदा द्रष्टुः
स्वरूपेऽवस्थानम्।

अर्थात् तब द्रष्टा जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप के अन्दर प्रतिष्ठित हो जाया करता है।

प्रश्न :—हे गुरुदेव ! स्वरूप प्रतिष्ठा कैसी होती है ? कृपा करके यह बात और मुझे समझा दीजिये। क्या स्वरूप प्रतिष्ठा हो जाने के बाद आत्मा को सुख दुःख आदि का कोई अनुभव नहीं होता ?

उत्तर :—हां पुत्र ! स्वरूप स्थिती का नाम निरोध समाधि है। उसी को योग कहा गया है। उपनिषदकार इसके विषय में खोल कर स्पष्ट लिखते हैं कि—

"समाधि समतावस्था जीवात्मा
परमात्मनः समावेशियोगः।"

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को ही योग कहा गया है। और वही निरोध समाधि कहलाती है। निरोध समाधि में पहुंच जाने पर आत्मा बिल्कुल शुद्ध स्थिती में आ जाया करता है वहां तक मन और बुद्धि की कोई पहुंच नहीं रहती। निरोध समाधि की स्थिती को अनुभवी सन्तों ने इस प्रकार कहा है—

मन बुद्धि से है परे कोई
बिरला जाने संत।

और इसके साथ साथ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं' इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये श्री व्यास देव महाराज ने भी अपने शब्दों में पूर्ण रूपेण व्यक्त कर दिया है—

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चित्त शक्ति यथा कैवल्ये, व्युत्थान चित्ते तु सति तथाऽपि भवन्ति न तथा।

अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा का अर्थ है जैसी चेतन शक्ति मोक्ष में हुआ करती है। यद्यपि

आत्मा संसार में जन्म और मरण के दुःखों का अनुभव करता हुआ भी स्वरूप प्रतिष्ठा के रूप में तो बिल्कुल विकार रहित शुद्ध बुद्ध रूप है ही किन्तु वैसा होता हुआ होने पर भी क्योंकि यहां पर यह बुद्धि बोधात्मा है इसलिये वैसा नहीं है। स्वरूप प्रतिष्ठा तो वही कहलायगी जिसमें पहुँच कर बोद्धव्य बोध बिल्कुल-बिल्कुल समाप्त हो जाते हैं। और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रह जाता है।

प्रश्न :—हे गुरुदेव ! इसका तो अर्थ यह हुआ निर्बीज अर्थात् निरोध समाधि ही समाधि है इसके अतिरिक्त मैं अपने गुरु-भाई बहिनों के समुदाय में यह देखता हूँ कि वे लोग विभिन्न प्रकार की अपनी ध्यानस्थितियों को सुनाते और बतलाते हैं। ऐसी हालत में देखने और सुनने का जो विषय है वह तो बुद्धि का ही ज्ञान हुआ। इसलिये अच्छे-अच्छे ध्यानी साधक को भी जो ध्यानानुभूतियें होती रहती हैं ये सब योग नहीं है ?

उत्तर :—हे पुत्र तुम्हारी बात तो ठीक है। तुम्हारा प्रश्न बिल्कुल ठीक है किन्तु 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये भगवान व्यासदेव जी ने एक संकेत दिया है वह इस प्रकार है—

सर्व शब्दा ग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याऽऽख्यायते, चित्तं प्राख्या प्रवृत्तिस्थिति शीलत्वात् त्रिगुणम् प्राख्या रूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्ट मैश्वर्य्य विषय प्रियं भवति,

तदेव तमसाऽनु विद्धमधर्माज्ञाना वैराग्यानैश्वर्य्योपगं भवति, तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनु विद्धं रजो मात्रया धर्मज्ञान वैराग्यैश्वर्य्योपगं भवति, तदेव रजोलेशम लापेतं स्वरूप प्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्य ताख्याति मात्रं धर्ममेघध्यानो पगं भवति, तत्परं प्रसङ्ख्यान मित्या चक्षते ध्यायिनः चित्तशक्तिर परिणामिन्य प्रतिसङ्क्रमा दर्शित विषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्व गुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेक ख्यातिरितिः अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्याति निरुणाद्धि, तदवस्थं चित्तं संस्कारोपगं भवति स निर्बीजः समाधिः, न तत्र किञ्चित् सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः, द्विविधः स योगश्चित्त वृत्ति निरोध इति।

अर्थात् क्योंकि 'योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः' इस सूत्र में 'योगः सर्व चित्त वृत्ति निरोधः' ऐसा नहीं कहा गया है इसलिये सम्प्रज्ञात समाधि को भी योग ही कहा गया है। क्योंकि प्रख्या प्रवृत्ति शील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है। एक नियम की बात चलती है और

वह यह कि हमारे चित्त में जिस समय जो गुण प्रधान होता है उसके साथ जो अन्य गुण उस के अधीन काम करने वाले उसके सहचारी रहते हैं जिस समय चित्त सतोगुण प्रधान और रजोगुण एवं तमोगुण उसके सहचारी रहते हैं तब वह चित्त ऐश्वर्य को चाहने वाला होता है। और उसके बाद उस ही चित्त में जब तमोगुण की प्रधानता आ जाती है तब वह चित्त अहम्, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की ओर झुका रहता है। और जब वह चित्त प्रक्षीण मोहावरण हो जाता है, केवल मात्र बहुत थोड़ा सा रजो मात्रा से अनविद्ध रहता है तब वह चित्त, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का चाहने वाला होता है। और वही चित्त रजोगुण की मात्रा से बिल्कुल छूट जाया करता है, तब स्वरूप प्रतिष्ठ धर्ममेघ समाधि वाला कहलाया करता है। इसे ध्यानी लोग परम ज्ञान कहते हैं। वैसे नियमानुसार चित् शक्ति अर्थात् जीवात्मा बिल्कुल अपरिणामशील है। इसके ऊपर किसी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शुद्ध और अनन्त है किन्तु बुद्धि का प्रभाव पड़ जानेसे यह दर्शित विषया कहलाती है और जो यह विवेकख्याति है वह भी सतोगुणात्मिका होने के कारण हेया है। इसलिये उसमें भी विरक्त हुआ साधक गुणात्मिका होने के नाते से उसको भी छोड़ देता है। जब चित्त उस ख्याति को भी छोड़ देता है तब उस चित्त में 'मैं हूं' ? इस प्रकार की वृत्ति शेष रह जाती है। यह भी वृत्ति समाप्त हो जाने पर साधक निर्बीज समाधि तक पहुंच जाता है। इस समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसलिये सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो प्रकार से योग का वर्णन किया है। और यहां से भगवान पतंजलि देव ने 'अथ योगानुशासनम्' कह कर योग दर्शन का आरम्भ किया है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये भगवान व्यास देव ने ये पंक्तियां लिखी हैं। उसमें चित्त किन-किन अवस्थाओं में रहता है यह समझाया है।—वह इस प्रकार है—

योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यं, योगः = समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः,

क्षिप्तं, मूढं, विक्षिप्तम, एकाग्रं, निरुद्धम् इति चित्त भूमयः तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनी भूतः समाधिर्न योग पक्षे वर्त्तते,

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान, कर्म बन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते,

स च वितर्कानुगतो, विचारानुगत

आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत, इत्युपरिष्टा-त्प्रवेदयिष्यामः, सर्व वृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः ।

अर्थात् योगानुशासन शब्द का अर्थ शास्त्र में प्रवेश करने के अधिकार को कहा गया है। योग समाधि कह करके योग शब्द की अभिव्यक्ति की है वह समाधि सार्वभौम चित्त का धर्म है। क्षिप्तमूढ़ विक्षिप्त एकाग्र और निरुद्ध ये चित्त की भूमियें कहलाती हैं और वहाँ पर विक्षिप्त चित्त में, क्योंकि विक्षेप प्रधान है और समाधि गौण है, इसलिये विक्षेप-उर्जनी समाधि को योग पक्ष में नहीं माना गया है। और जो समाधि चित्त की एकाग्रावस्था को प्राप्त होता है जिसमें पहुँचकर साधक वस्तु तत्व की यथार्थता को जान लेता है और क्लेश बन्धन क्षय हो जाते हैं। कर्म कलाप कमजोर पड़ जाता है और चित्त को निरोध की ओर ले जाता है वह समाधि सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। सम्प्रज्ञात योग की चार श्रेणी होती है, (१) वितर्कानुगम, (२) विचारानुगम, (३) आनन्दानुगम और (४) अस्मितानुगम। ये चारों श्रेणी सम्प्रज्ञात समाधि की है और निर्बीज में जाकर चित्त का समूलोन्मूलन हो जाता है।

प्रश्न :— हे गुरुदेव ! आपने सम्प्रज्ञात योग की चार श्रेणी बतलाई है वे तो मैं बाद में समझ लूंगा किन्तु पहले मुझे सार्वभौम चित्त किन-किन भूमिकाओं में किस-किस प्रकार से रहता है ? यह बात पूरी तरह स्पष्टीकरण के साथ समझा दीजिए। जिससे मैं भली प्रकार समझ जाऊँ कि चित्त अपनी-अपनी भूमियों में किस प्रकार से रहा करता है और बाद में निरोध और निर्बीज स्थिति में चित्त की क्या स्थिति होती है।

उत्तर :—हे पुत्र ! इस बात को तुम इस प्रकार से समझ लो। पहले भी तुम्हें बतलाया था कि प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थितिशील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है। देखो जहाँ पर जिस गुण की प्रधानता हो जाती है वहाँ पर अन्य दो गुण उस प्रमुख चित्त का अनुगमन करते हैं। जैसे—भगवान व्यास देव ने संसार के सारे प्राणियों को उपरोक्त पांच भूमिकाओं में बांट दिया है। इनमें से मूढ़ावस्था के प्राणी वे कहलाते हैं जिनमें तमोगुण की प्रधानता होती और रजोगुण एवं सतोगुण गौण रूप से रहा करते हैं। ऐसे प्राणी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य को चाहने वाले गधे, घोड़े, खच्चर आदि प्राणियों की तरह मूढ़तम के प्राणी कहलाया करते हैं। उसके बाद दूसरे प्राणी वे हैं जिनमें रजोगुण प्रधान हो जाता है और तमोगुण और सतोगुण गौण रूप से काम किया करते हैं। ऐसे प्राणी परलोक प्रवृत्ति को नहीं समझते। राम, कृष्ण विष्णु, शिव आदि को नहीं मानते। उन लोगों का सिद्धांत होता है कि—

" यावत जीवेत् सुखं जीवेत्
ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत,
भस्मीभूतस्य देहस्य
पुनरागमनं कुतः ।"

अर्थात् मनुष्य संसार में जिन्दा रहे तब तक ऐश आराम को भोगे। कर्जा लेकर घी को पिये क्योंकि अन्त में शरीर जलकर भस्म हो जायेगा इसका पुनरागमन होगा ही नहीं। ऐसे प्राणी रजोगुण प्रधान क्षिप्तावस्था के प्राणी कहलाते हैं। तीसरे प्राणी वे हैं जो विक्षिप्तावस्था के प्राणी कहलाते हैं। इन लोगों में सतोगुण प्रधान हो जाता है। रजोगुण और तमोगुण गौण हो जाते हैं। परलोक को मानते हैं। श्रीराम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदिदेवों के अन्दर पूरी-पूरी श्रद्धा रखते हैं। किन्तु रास्ता न मिलने पर विवश रहते हैं। यही लोग अपने मुख से बार-बार संकीर्तन किया करते हैं और कहा करते हैं :—

राम नाम रटते रहो,
जब लगि घट में प्राण ।
कबहुँ तो दीन दयाल के,
भनक परेगी कान ॥

इन लोगों में यह विश्वास अवश्य होता है कि ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है। भगवान राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि के दर्शन हो सकते हैं किन्तु कोई उपाय न मिलने पर असमर्थ रहते हैं। इससे आगे चौथे प्राणी एकाग्रावस्था के कहलाया करते हैं। एकाग्रावस्था के प्राणियों में सतोगुण चमक उठता है। मोहावरण क्षीण हो जाता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियें अन्तर्मुखता को धारण कर लेती हैं। और उस सतोगुण के दिव्य प्रकाश के अन्दर श्रीराम, श्रीकृष्ण श्री भगवान सदाशिव और इनके अतिरिक्त अन्य सभी देवी देवताओं के दर्शन भी होने लगते हैं। धीरे-धीरे ये साधक ऋतम्भरा प्रज्ञा तक पहुँच जाते हैं और इनकी अनुभूतियें सभी सत्य होने लग जाती हैं। इससे आगे पाँचवी अवस्था निरोधावस्था है। जिसमें साधक के चित्त केवल मात्र अन्तिम प्रत्यय रूप से ही शेष रहता है। वह भी निर्बीज समाधि में पहुँच कर बिल्कुल निरुद्ध हो जाता है। इस निर्बीज समाधि में भी आत्मा स्वरूप प्रतिष्ठ हो जाता है। इस स्थिति में चित्त वृत्ति निरोध को प्राप्त करके 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' इस सूत्र के यथार्थ अर्थ का ज्ञाता बन जाता है। इस ही निर्बीज समाधि को प्राप्त करके योगी अपने आपको समतावस्था में देखता है और प्राप्तव्य को पाकर कृतकृत्य हो जाया करता है।

शिष्य :—हे गुरुदेव आपके उपदेशामृत को सुनकर मैंने योग शब्द के अर्थ को भली प्रकार समझ लिया है। आशा है आपकी पूर्ण कृपा से मैं अवश्य ही योगानुगामी बन जाऊँगा।

—: सिद्धयोग के अनुवर्ती महात्मा यीशु: :—

❀ डा० श्री विजयसिंह

—: प्रथम :—

आत्मबोध, सिद्धों की कृपा से सहज प्राप्त हो जाता है। सतगुरु की कृपा से साधारण से साधारण मानव में भी आध्यात्मिक प्रकाश का जागरण सम्भव हो उठता है। अतः सिद्धयोग बहुत अर्थों में "वीतराग विषयं वा चित्तम्" की ही साधना है। आज आस्तिक कहे जाने वाले धर्मों में सनातन वैदिक धर्म, यहूदी धर्म, खीस्तीय धर्म एवं इस्लाम प्रमुख हैं। ईश्वर एक है। वही सृष्टि का उद्भव, पालन, संहार करता है। ईश्वर सर्वज्ञ एवं अद्वितीय है। उसकी दया सदैव सत्कर्मियों के साथ है। वही सम्पूर्ण आनन्द है। सब ज्ञान-विज्ञान भी उसी से उद्भव होते हैं। ऐसा विचार सभी आस्तिक धर्मों में पाया जाता है।

जब-जब मनुष्य कुरीतियों-पाखण्डों और अभिमानस विकारों से ग्रस्त होकर सम्पूर्ण समाज तथा समष्टिगत सृष्टि को विकृति एवं विनाश की ओर ढकेलने लगता है तब तब वह परमेश्वर आकार रहित होने पर भी, अपनी सदय कृपा का संचार मानव को सचेत करने हेतु करते हैं। परन्तु अहंकार की मदिरा से मत्त मानव ने सब उन संकेतों-प्रतीकों की परवाह की है। अधर्म की पराकाष्ठा न हो अतः ईश्वर अपने प्रिय पुत्रों को जीवों के उद्धार हेतु समय समय पर भेजते रहते हैं। इन्हीं महापुरुषों को हम अवतारी पुरुष व सिद्ध पुरुष कहते हैं ऐसे लोग अपरमित योगशक्ति तथा ईश्वरसे अभिन्नता का व्यावहारिक प्रमाण समाज को देते हैं जिसके फलस्वरूप समाज में उत्पन्न कुरीतियां का सड़ांध इन महापुरुषों के दिव्य आचरण के सुगन्ध से दब जाती है और साधारण मानव में भी भागवत-आस्था का दीप प्रकाशित हो उठता है।

पिछले पृष्ठ का शेष

सत्संग का समय समाप्त हो गया। सभी साधकों को इस प्रश्नोत्तरी से बहुत लाभ हुआ। एवं सभी अपनी वृत्तियों को योगमयी बनाकर अपनी परम कुटियों को चले गये। आशा है अन्य सभी जिज्ञासु पाठक गण भी इस प्रश्नोत्तरी को पढ़कर अपने मनों को योगानुगामी बनायेंगे एवं जीवनको साफल्यगामी बनायेंगे।

❀

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पृथ्वी पर एक ऐसे ही ईश-कृपा मण्डित दैवी पुरुष का जन्म हुआ था, जिनकी जीवन गाथा भक्ति योग, सिद्धयोग, एवं सिद्धकृपा के तमाम उद्धरणों से परिपूरित है। वे हैं ख्रीस्तीय धर्म प्रवर्तक महात्मा ईसा या यीशु।

काल-परिप्रेक्ष्य—

फिलिस्तीनी, यहूदिया, इथिओपिया, अरब, फारस, लेबनान, मिस्र, ईरान आदि भूभागों पर रहने वाले मनुष्य आज से २ हजार वर्ष पूर्व के काल में धर्म के नाम पर घृणित बलि-प्रथा, धर्मनियमों से सर्वथा रहित, पाखण्ड पूर्ण जीवन तथा सामाजिक सम्बन्धों में क्रूरता, काहिलियत, व्यभिचार समलैंगिकता, अप्राकृतिक मैथुन आदि घोर कर्मों में लिप्त थे। पुरोहित एवं राजाओं का बोलबाला था। उनके मनमाने बनाये नियम ही धर्म बन चुके थे। जब तब कंस सदृश कामी, क्रूर राजा राज्य कर रहे थे।

"ईश्वरोऽहं अहंभोगी
सिद्धोऽहं बलवानो सुखी"

जैसी तामसी वृत्ति सर्वत्र अहंकारी राजाओं में व्याप्त थी। बाइबिल में इन बातों का रोमांचक वर्णन है। यहाँ येरुसलेम के राजा हेरोद से सम्बन्धित एक घटना का वर्णन ही उपरोक्त मन्तव्य को प्रमाणित करने वाला सिद्ध होगा।

राजा हेरोद के दरबार में पूर्वदेश (कदाचित् भारत) से कुछ भविष्य द्रष्टा ज्ञानी जन पहुँचते हैं। राजा को इन महात्माओं से ज्ञात होता है कि यहूदियों के सच्चे राजा का जन्म हो चुका है तथा ये लोग भी उसी दिव्य बालक के दर्शन करने हेतु आये हैं। राजा यह बात जानकर मर्म को न समझते हुये राज्यच्युत होने के भय से कंपित हो उठा। उसने अपनी सेना को आदेश दिया कि ईसा की जन्मस्थली बेथेलहम तथा उसके आस-पास जितने भी दो वर्ष तथा इससे छोटे बच्चे हों उन्हें मार डालो। सैनिक आदेश पाकर चल पड़े—उन के अमानवीय क्रूर कर्म से मानवता कांप उठी थी। बच्चे बेदर्दी से मारे जाने लगे, परन्तु—

जा को राखे साइयाँ
मार सकहि ना कोय।
बाल न बांका करि सकहि
जो जग बैरी होय॥

अस्तु, बालक ईसा को तो कोई क्षति नहीं पहुँची। देवदूतों के कथनानुसार इस क्रूर घटना के पूर्व ही उनके माता पिता बालक ईसा को लेकर मिस्र जा चुके थे।

ईसा का अद्भुत जन्म—

कुमारी कन्या मरियम से यीशु का जन्म हुआ। गलीलिया के नाजरेत नगरी में एक धर्म परायण युवती मरियम को अकस्मात एक एक दिन दिव्य अनुभव हुआ। जिस दिन

उसकी मगनी योसेफ से तै हुयी उसी दिन देवदूत गाब्रिएल का दर्शन उसको मिला। देवदूत ने कहा —माँ, तुमको मेरा प्रणाम। आप स्त्रियों में धन्य हैं। मरियम डर गयी, भयभीत हो बोली —आप पर ईश्वर की अनुपम कृपा है। आप दिव्य रूप से गर्भवती होंगी और पुत्र जनेंगी। उसका नाम यीशु रखियेगा वे महान होंगे। मरियम बोली—मैं कुंवारी हूँ पुरुष को नहीं जानती यह सब कैसे होगा? देवदूत आश्वासन देता हुआ बोला—पवित्र आत्मा आपको आप्लावित कर देगा। सर्वोच्च शक्तिमान की छाया आप पर पड़ेगी। ईश्वर के लिये कुछ भी असंभव नहीं है। इतना बता कर वह अदृश्य हो गया।

कुछ कालबाद घटना वैसी हो घटी जैसा देवदूत ने कहा था। जन्म के समय गांव के भोले भाले चरवाहों को भी देवदूत ने प्रकट होकर बताया कि आज पवित्र आत्मा यीशु का परोक्षतम मेंजन्म हुआ है। इन ने सभी जाकर बालक ईसा का दर्शन प्राप्त किया।

योग विद्या के आत्मिक ज्ञान के बिना धर्म विडम्बना में वर्णित विचित्र घटनाओं के मर्म की यथार्थ व्याख्या की ही नहीं जा सकती ऐसी बातें साधारण जन-मानस में सात्विक विचार वालों में श्रद्धा तथा तामस विचार वालों में संशय उत्पन्न किया करती है।

योग सभी धर्मों का विज्ञान है। सारे जीव जगत में मानव अपनी बौद्धिक विशिष्टता के कारण ही सर्वश्रेष्ठ है। मन की महती शक्ति व्यवहारिक बोध पाकर ही मानव परममानव बन पाता है। बाइबिल में वर्णित है—अनन्त जल राशि के ऊपर अंधकार था, एकाकी ईश्वर की आत्मा सर्वत्र व्याप्त थी। ईश्वर ने कहा "प्रकाश हो जावे" और प्रकाश हो गया। सारी सृष्टि ही ईश्वर के संकल्प शब्द से निर्मित हुई। पुराणों में आता है—आदि नारायण एकार्णव नार में योग निद्रालीन हैं। सारी सृष्टि उनमें ही कारण रूप से समाहित है। योग निन्द्रा से जागकर जब वे संकल्प करते हैं—

"एको अहं बहुस्यामि"

एक से अनेक हो जाऊं और सृष्टि का अद्भुत व्यापार आरम्भ हो जाता है। प्रकृति भी परम पुरुष की अनादि सहचारी है। संवेदना ही सृष्टि का कारण है।

इन्हीं आदि नारायण से ब्रह्मा जी की उत्पत्ति तथा तप साधन से ब्रह्मा जी द्वारा सूक्ष्म, स्थूल सृष्टि की उद्भव कथा कही गयी है। प्रथमतः संकल्प द्वारा रचित ब्राह्मी सृष्टि अति सात्विक होने के कारण टिकाऊ न रही बड़े यत्न से ब्रह्मा जी ने मनु-शतरूपा की जोड़ी से मैथुनी सृष्टि का विस्तार किये। खीस्तीय धर्म में मानव सृष्टि का विस्तार भी आदि पुरुष आदम एवं स्त्री हव्वा से बताया गया

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

तप के तीन प्रकार

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ पूजनं शौच मार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिन्सा च शारीरं तप उच्यते ॥

देव, द्विज (ब्राह्मण) गुरु प्राज्ञ इन सबकी सेवा करना, शरीर और वस्त्रादि स्वच्छ रखना, सरलता, ब्रह्मचर्य का पालन और हिंसा का अभाव, इन लक्षणों को शारीरिक तप कहा जाता है।

—गीता १७/१४

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयतप उच्यते ॥

जो वचन दूसरों में उद्वेग पैदा न करें, दूसरों को चुभन और दुःख पैदा करने वाले न हों, सत्य हों प्रिय और हितकारी हों, ऐसे वचनों का बोलना तथा स्वाध्याय का अभ्यास इसे वाणी का तप कहते हैं।

—गीता १७/१५

मनः प्रसादः सौम्यत्वं, मौनमात्मविनिग्रहः ।
भाव संशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥

मन की प्रसन्नता, सौम्यता यानी मृदुता आत्म-चिन्तन, आत्म विनिग्रह, इन्द्रियों का संयम चित्त की विशुद्ध भावना। इन पांच लक्षणों से युक्त तप को मानसिक तप कहते हैं।

—गीता १७/१६

(पिछले पृष्ठ का शेष)

है। तप तेज से पूरित ऋषि लोगों द्वारा संकल्प सृष्टि की अनेक पौराणिक गाथायें हैं। विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, वाल्मिकि द्वारा रचित अनेक सृष्टि संरचनाओं से सम्बन्धित कथायें इस संदर्भ दृष्टव्य है।

दिव्य देवात्माओं द्वारा मानवी स्त्रियों में गर्भ संचार की अनेक घटनायें पुराणान्तर्गत वर्णित हैं। पाण्डव जननी कुन्ती तथा पराशर सेवित सत्यवती कथा ऐसी ही घटनायें हैं जिनमें पुत्र उत्पत्ति के पश्चात् भी कौमार्य नष्ट न होना प्रतिपादित किया गया है। अविवाहित कुमारी मरियम से यीशु का जन्म भी इसी प्रकार हुआ था।

आहार के तीन प्रकार–

आयुः सत्व बलारोग्य-सुख प्रीति विवर्द्धना। ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिराहृद्या आहाराः सात्विक प्रिया ।।

आयुष्य, सत्व, स्वास्थ्य, सुख और प्रेम बढ़ाने वाला, रसयुक्त स्निग्धऔर स्थिर-हृदय को बल देने वाला, आरम सात होने वाला आहार सात्विक प्रकृति के पुरुषों को प्रिय लगता है।

—गीता १७/८

कट्वम्ल लवणात्युष्ण तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिना ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःख शोकामय प्रदाः ।।

कडुवे और खट्टे नमकीन और बहुत गरम, तीखे और रूखे शरीर में जलन पैदा करने वाले और दुःख शोक तथा रोग पैदा करने वाले होते हैं। ऐसे आहार राजसिक लोगों को प्रिय लगते हैं।

—गीता १७/९

यातयाम गत रसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजन तामस प्रियम् ।।

—गीत १७/१०

ठण्डा, सडरस जिसमें रस न रहा हो, जिसमें दुर्गन्ध आने लगी हो, बासी हो, जूठा हो और यज्ञ के योग्य न हो यानी जो वर्जित हो ऐसा भोजन तामस वृत्ति वालों को अच्छा लगा करता है।

विशेष—प्रायः आजकल यह देखा जाता है कि माँ-बेटा या पति-पत्नी एक ही थाली में साथ-साथ बैठकर भोजन किया करते हैं। आहार शास्त्र की दृष्टि से यह आदत अच्छी नहीं कही जा सकती।

अमेध्यम्—जो यज्ञ के योग्य न हो जैसे मांस, मछली, मदिरा आदि। यज्ञ की पवित्रता का अपना महत्व होता है इसलिए यहां अमेध्यम्—शब्द का प्रयोग किया गया है।

श्रद्धा के तीन प्रकार–

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभाव जा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।

देहधारी जीवों की सात्विकी, राजसी और तामसी ऐसी तीन प्रकार की श्रद्धा होती है। यह श्रद्धा स्वभावजा यानी जन्म-जात होती है। श्रद्धा कभी प्रयत्न से पैदा नहीं होती।

श्रद्धा-शिष्यत्व की कसौटी

❀ श्री विष्णुप्रसाद व्यास

श्रद्धा मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की द्योतक है तथा मनुष्य के मूल स्वभाव के ज्ञान का एक अन्तर्निहित सत्य है। वास्तव में श्रद्धा का अर्थ विश्वास नहीं बल्कि ज्ञान की सुषुप्तावस्था है। यह ज्ञान का वह आयाम है जो अपने अन्दर मौजूद है लेकिन प्रकट नहीं हुआ है।

गुरु शिष्य का सम्बन्ध या भक्त और भगवान का सम्बन्ध श्रद्धा पर ही आधारित है। श्रद्धा के अभाव में उस सम्बन्ध का कोई अर्थ नहीं है, उस सम्बन्ध का अस्तित्व ही मिट जाता है। शिष्य में यदि श्रद्धा है तो वह अपने वृहत् आन्तरिक अस्तित्व को पहचान सकता है। श्रद्धा इतनी स्वाभाविक चीज है कि गुरु-मंत्र या साधना में श्रद्धा रहने से उसका तुरन्त परिणाम दिखाई देता है।

श्रद्धा के उचित दिशान्तरण से आप रोग निवारण कर सकते है या अपनी इच्छा शक्ति से जड़ वस्तुओं को भी हिला सकते है। लेकिन योग और तंत्र में श्रद्धा का अर्थ होता है कुंडलिनी का जागरण। अधिकांश लोगों केलिए श्रद्धा एक भ्रमपूर्ण विषय है। गुरु में श्रद्धा का अर्थ क्या है? अधिकांश लोगों के लिये इसका अर्थ होता है बौद्धिक विश्वास। लेकिन श्रद्धा इससे बड़ी चीज है। एक दिव्य शक्ति का केन्द्रित स्वरूप ही श्रद्धा है। हम सब को विश्वास होता है और इस विश्वास को ही श्रद्धा कहते है। परन्तु विश्वास धोका दे सकता है श्रद्धा कभी धोका नहीं दे सकती। चूंकि श्रद्धा मन की अभिव्यक्ति नहीं है। इसलिये इसका सुपरिणाम एकदम निश्चित है। श्रद्धा को हम बुद्धि से समझते तो है। लेकिन उसकी अभिव्यक्ति बुद्धि से नहीं होती है।

श्रद्धा अत्यन्त गहन है यह आत्मा की अभिव्यक्ति है। आप साधना के मार्ग में जैसे जैसे आगे बढ़ने लगते है वैसेही आप भावनाओं, स्मृतियों और इन्द्रियों के विषय इत्यादि सभी चीजों से आगे बढ़ जाते है। इस समय अनुभव का एक ऐसा शिखर आता है जहां से कोई भी वस्तु मन के एक विशिष्ट आयाम के भीतर रहने से जविन्त प्रतीत होती है। यह अनुभव ही श्रद्धा का आधार है।

अपने सन्तों की। सिद्ध पुरुषों की और

भक्तों की अनेकों कहानियाँ पढ़ी होंगी। उन्होंने ऐसा काम किया जो बुद्धि के द्वारा समझाया नहीं जा सकता था।

यह श्रद्धा से ही सम्भव है। इसी लिये श्रद्धा को सुरक्षित रखना जरूरी है क्योंकि बुद्धि और तर्क श्रद्धा को नष्ट कर डालते हैं। लेकिन श्रद्धा और बुद्धि को ठीक ठीक समझा जाये तो दोनों के मार्ग में वृद्धि हो सकती है।

श्रद्धा की रक्षा करने केलिये उसको बढ़ाने के लिये और उसका पूर्ण अनुभव करने के लिये गुरु शिष्य सम्बन्ध और भक्त भगवान का सम्बन्ध ही पहला कदम है। यह सम्बन्ध पूर्णता श्रद्धा पर ही अवलम्बित है। आपकी श्रद्धा अंकित होनी चाहिये। आपका विश्वास उसी प्रकार का होना चाहिये जैसे आप अपनी माँ पर विश्वास करते हैं आपको कैसे मालूम कि आपकी माँ सचमुच आपकी माँ है? यह आपकी श्रद्धा है। उसी प्रकार आपको गुरु या भगवान में श्रद्धा होनी चाहिये।

साधारणतः हम लोगों का भगवान के प्रति जो विश्वास है वह बौद्धिक होता है। इसलिये उसे श्रद्धा नहीं कहा जा सकता बल्कि वह एक कल्पना मात्र है। हम लोग भगवान में विश्वास रखते हैं, भगवान से प्रेम करते हैं उनका सम्मान और पूजा करते हैं, लेकिन कुछ होता नहीं है। क्यों? क्योंकि वह केवल विश्वास है। इसको हम लोगों ने अपने माता पिता से सीखा है। हम लोगों को अच्छी चीजें तो सिखाई गई हैं परन्तु हमको उन चीजों का अनुभव नहीं है। बहुत से लोग तो उस विश्वास को भी नष्ट कर देते हैं जो उनके भावनात्मक जीवन का आधार बना रहता था। लोग कहते हैं भगवान नहीं है। और तर्क वितर्क करने लगते हैं। इससे उन का दिव्य-शक्तियों से जो थोड़ा-बहुत सम्बन्ध है वह भी टूट जाता है।

अपनी श्रद्धा को सुरक्षित रखना जरूरी है। इस लिये जीवन की सबसे मुख्य चीज है गुरु-शिष्य के बीच सम्बन्ध। जीवन के महान उद्देश्य के लिये श्रद्धा जरूरी है। लेकिन साथ ही उसको कायम रखना बहुत कठिन है। किसी व्यक्ति पर श्रद्धा कैसे रखी जाय? जब कोई व्यक्ति मानव शरीर धारण करता है तब उसमें कुछ दोष जरूर होते हैं लेकिन आप का शरीर अमर नहीं है।

जब गुरु मानव शरीर धारण करता है तब वह एक स्तर पर जीवन यापन करता है। वह दोष पूर्ण नियमों का शिकार भी होता है और आपके समान बातें भी करता है। कोई भी जन्म लेने के बाद अपनी सीमाओं का उल्लंघन नहीं कर सकता। जब शिष्य गुरु को सीमित रूप से देखता है तब उसकी श्रद्धा डगमगाने लगती है क्योंकि वह गुरु अपने बीच कोई विशेष अन्तर नहीं देखता है।

पूर्व प्रकाशित से आगे –

शिव तत्व की प्राप्ति

एवम् - निर्बीज समाधि में प्रवेश

❀ श्री जगदीशनारायण उपाध्याय

भारतीय ऋषिगण एवं सद्गुरुओं द्वारा प्रदत्त राजयोग की इस प्रणाली के बारे में लिखी, इस लेख की अब तक की बातें पिछले लेख में प्रयोग लायी गई क्रियात्मक अनुभव ज्ञान की बातें थीं। अब आगे लिखी जा रही बातें इस समय तक प्रयोग में ले आई गयी क्रियात्मक ज्ञान की बातें होंगी जिसके द्वारा आप ज्ञात करेंगे कि राजयोग की इस वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा किस प्रकार साधक (योग वाशिष्ठ के पिछले चार अन्तर ज्ञान की भूमिका की तरह उससे उठी हुई उसकी अगली, असंसक्ति पदार्थ भावना व तुर्यगा अन्तर ज्ञान की भूमिका से अपने अन्तर ज्ञान को असम्प्रज्ञात योग के सवितर्कानुगत समाधि एवं उसके ऊपर अन्य समाधियों द्वारा बदल कर साधक ने ज्ञान दीप्ति प्रज्वलित विवेक ख्याति को कैसे प्राप्त किया। फिर उस प्रकाश आवरण को हटाकर कैसे ज्ञान प्रकाश प्रज्ञालोक को

(पिछले पृष्ठ का शेष)

शिष्य चाहता है कि गुरु कोई चमत्कार करे लेकिन गुरु कभी चमत्कार नहीं करता। चमत्कार तो कोई भी दिखा सकता है। इसलिए चमत्कार श्रद्धा बढ़ाने का कारण नहीं बन सकता।

गुरु के साथ जो सम्बन्ध है उसको अचल शाश्वत और घनिष्ठ बनाने से श्रद्धा की रक्षा और विकास होता है।

श्रद्धावान शिष्यों को ही गुरु अपने स्वभाव का परिचय देता है। क्योंकि वही छेनी की मार को सहन कर सकता है गुरु उस पत्थर के टुकड़े को सुन्दर मूर्ति के रूप में परिणत कर सकता है।

श्रद्धा मनुष्य के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी पूंजी है। यदि आपके पास श्रद्धा है तो आप के पास सब कुछ है। श्रद्धा के बिना आप भिखारी है। आप जब अपनी गहराई में ज्योति दर्शन करते है तब आप श्रद्धावान बनते है और जहां श्रद्धा है वहां शक्ति और ज्ञान दोनों ही सहज सुलभ होते हैं। ❀

प्राप्त किया ।

पिछले क्रियात्मक ज्ञान व निष्काम भाव-जागृत हो जाने पर जब साधक पुनः नित्य की भांति पहले की तरह अपने आराध्य देव 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' की अखण्ड मण्डलाकार रूप का ध्यान, तथा साथ ही साथ कान में अनवरत रेवा की ध्वनि की तरह शब्द, अर्थ मिश्रित ज्ञान के रूप में सुनाई पड़ने वाले 'मंत्र' के शब्द की धारणा । अपने अन्तःकरण एवं निश्चयात्मक बुद्धि या 'वृत्ति' में, दायरे के भीतर बाह्य कम्पन, स्नायुविक गति, मानसिक प्रतिक्रिया के साथ, कम्पन प्रवाह के रूप को बदलकर करता है, तो कुछ दिनों बाद कम्पन प्रवाह स्थूल, सूक्ष्म, अति सूक्ष्म होने लगता है । जिसके फलस्वरूप उसके चित्त रूपी मानस-सरोवर के बाह्य, आभ्यान्तर शब्द प्रवाह में से, उठने वाला प्रति क्रिया के रूप में मिश्रित ज्ञान में से, जो हम बाह्य रूप से शब्द करते थे उस शब्द का बाह्य प्रवाह अपना रुक जाता है । तब भीतर से उठने वाला आभ्यान्तर प्रवाह भी, शब्द के बाह्य प्रवाह के न सुनाई देने के कारण नष्ट हो जाता है तब क्या बच जाती है; प्रतिक्रिया का परिणाम । यही ज्ञान है ।

जिसके उत्पन्न हो जाने के कारण, खदान से निकली अपरिष्कृत धातु व रासायनिक पदार्थ की तरह साधक का स्थूल ज्ञान, गल-गल कर निकलने लगा है । तब क्या गया है । ध्येय वस्तु का ज्ञान । उसी ध्येयवस्तु के साथ जब साधक पुनः अपने आराध्य देव 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' के सूक्ष्म अखंड मण्डलाकार रूप की धारणा के साथ ध्यान, ईथर या (आकाश तत्त्व) के संकोच के साथ मृदु, मृदुतर और मृदुतम कम्पन के रूप में बार-बार करता है । तो चारों तरफ पर्वत के कम्पन होने से शिखर की तरह चिदाकाश में स्थित, अणु ऊर्जा में से पत्थर के खण्ड के समान चेतन पुरुष का चिन्मय प्रकाश, साथ ही साथ प्रकृति पुरुष या आत्मा सूक्ष्म प्रकाश, निकसकर चुकाये हुये पत्थर के समान, अपने गतिमान गुण के कारण ऊर्जा के साथ कारण में, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष या (आत्मा) का सूक्ष्म प्रकाश, अपने द्रव्य मान गुण के कारण धीरे धीरे सूक्ष्मतर अपने कार्य शरीर में पहले जैसे स्थिर हो जाती है । तब बुद्धि अपने स्वरूप ज्ञान में स्थित हो जाती है । जिसकी बुद्धि में स्वरूप का ज्ञान नित्य-निरन्तर जोशल रहा है वही 'ज्ञानवान्स्थित चेता' है ।

वास्तव में ज्ञान संसार का होता है । स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि स्वरूप स्वतः ज्ञान स्वरूप है । क्रिया और पदार्थ ही संसार है । क्रिया और पदार्थ बिल्कुल अलग है । क्रिया और पदार्थ का स्वरूप के साथ किञ्चिन्मात्र भाव भी सम्बन्ध नहीं है ।

क्रिया और पदार्थ जड़ है तथा स्वरूप चेतन है। क्रिया और पदार्थ प्रकाश्य है तथा स्वरूप प्रकाशक है। इस प्रकार क्रिया और पदार्थ की स्वरूप से भिन्नता का ठीक-ठीक ज्ञान होने से ही क्रिया और पदार्थ रूप संसार से साधक का सम्बन्ध विच्छेद हो गया है। साधक स्वतः सिद्ध सहज स्थिति को अपने भीतर अनुभव ज्ञान करने लगा है। अपने को मुक्त और प्रसन्न मानने लगा है। साथ ही साथ लोक संग्रहार्थ सेवा भाव से अपने कार्य में जुट गया है। इसका सारा श्रेय योगशास्त्र की कम्पन क्रिया से युक्त राजयोग के इस वैज्ञानिक प्रणाली को है। जिसके कारण ही साधक को ज्ञेय वस्तु का ज्ञान हुआ है। योग वाशिष्ठ की असंगति ज्ञान की तरह साधक को अपने पूर्व प्रकृति के प्रति असंगति या अलगाव से हुई है, साथ ही साथ स्वरूप स्थिता का ज्ञान व कृतज्ञता की प्राप्ति हुई है। और अन्त में चलकर स्मृतियों के शुद्ध हो जाने पर उसी के कारण निर्वितर्क समाधि की स्थिति में वह पहुँच गया है। हमारे इस आशय की पुष्टि पातंजल योग के नीचे लिखे निम्न-लिखित सूत्रों द्वारा तथा गीता के पांचवें अध्याय के २० श्लोक तीसरे अध्याय के ६ श्लोक व तेरहवें अध्याय के २९वें श्लोक द्वारा की गई है।

स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवा-र्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का।

(१/४३)

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

(२/२५)

अब आगे लिखी जा रही राजयोग की इस वैज्ञानिक प्रणाली की समाधि स्थिति की बातें उन्हीं समान सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले, गुरु परम्परा से चले आये, सिद्ध महा-पुरुषों के क्रमानुसार बार-बार अन्तर दर्शन अहेतुकी कृपा व प्रेरणा पर अवस्थित योग माया महालक्ष्मी, त्रिगुणात्मिका माया शक्ति द्वारा समाधि में ज्ञान दीप्ति को प्रज्व-लित करने, कुण्डलिनी महाशक्ति को उठाकर मस्तक पर पहुँचाने व आभा लिये धुयें की तरह आकाश गङ्गा में स्थित बड़ी जीभ वाली-महाशक्ति काली से मिल जाने वाली, गुह्य अनुभव ज्ञान की बातें हैं। अतः साधक इन सारे गुह्य समाधि के अनुभव ज्ञान की बातों का वर्णन करना यहां उचित नहीं समझता। फिर भी गोपनीयता का ख्याल रखते हुये जहां तक हो सका है, उसका वर्णन कर रहा हूँ।

प्रथमोक्त अभ्यास से सूक्ष्मतर अनुभव शक्ति प्राप्त कर लेने पर और योग माया की कृपा से, कुण्डलिनी महाशक्ति के मस्तक पर पहुँच जाने पर, जब साधक पुनः अपने सूक्ष्म विषय के साथ ध्यान धारणा का अभ्यास करता है। तो अपने स्वरूप में स्थित साधक का आत्मा, भीतर से विषय शून्यता महसूस

करने लगती है जिसके कारण स्मृति स्वरूप उसके मस्तिष्क के भीतर के परमाणुओं में एक मृदुतम कम्पन या गति पैदा हो जाती है तथा उसके प्रतिक्रिया स्वरूप उसके मेरुदण्ड मध्यस्थ सुषुम्ना के भीतर से स्नायु प्रवाह चलने लगता है। फिर उसी कारण विषय-अभिघात से उत्पन्न संस्कार समष्टि संचित मूलाधार कुण्डलनीकृत क्रिया शक्ति के अवशिष्ट अंश-स्नायुजाल से, गाढ़ा रक्त रंजित सावला शक्ति प्रवाह प्रकाश के रूप में प्रवाहित हो जाता है। उसी शक्ति प्रवाहरूपी ज्ञान प्रकाशके निकलने व स्नायुजाल के खुल जाने से इड़ा और पिंगला नाड़ी में से केवल अन्तरमुखी शक्ति प्रवाह ज्ञान का आना जाना आरम्भ हो जाता है। तब वही मूलाधार का संचित प्रवाह ज्ञान या शक्ति पुंज भाग इड़ा और पिंगला नाड़ी द्वारा कम्पन क्रिया करने से सुषुम्ना नली के भीतर से स्वाधिष्ठान से मणिपूरक चक्र में जाकर हल्के काले नील द्रव पदार्थ के रूप में बदल कर, अनाहत विशुद्ध चक्र, आज्ञाचक्र में विविध रंगों में होता हुआ, अन्त में चलकर स्नायु केन्द्र में से आत्मा के पास पहुंच जाता है। इन्द्रिय अनुभूतियों के साथ शक्ति प्रवाह ज्ञान के आत्मा के पास पहुंच जाने पर आत्मा के भीतर अलौकिक शक्तियों के जानने की मानसिक प्रति क्रिया उत्पन्न हो जाती है। और वह अपनी इच्छा मात्र से कारण शरीर में लीन हो जाती है। यह मन की गम्भीर शान्त अवस्था है इसमें मन की समस्त तरंगें शान्त हो जाती है और मन सम्पूर्ण रूप से अपने वश में आ जाता है। तब मन के उपादान कारण चित्त वृत्ति (भंवर) में स्वरूप ज्ञान का प्रकाश व शक्ति-प्रवाह ज्ञान का प्रकाश आपस में मिलकर बीज रूप में परणित हो जाता है। फिर वही बीज रूप में परणित प्रकाश ज्ञान, प्रकृति के अनुसार बादलों के बीच सूक्ष्म आकाश में होता हुआ, विज्ञान के आवर्तन, परावर्तन सिद्धान्त के अनुसार, भंवर की तरह परमाणु कम्पन के साथ उठता हुआ, अन्त में छोटे रूप में होकर, चिदाकाश में स्थित आकाश गंगा में प्रकाशित हो जाता है। आकाश गंगा में आत्मा के बीज रूप प्रकाश के प्रकीर्णित हो जाने पर पहले पहल अभ्यान्तर पदार्थ के रूप में उसमें से प्रवाहित होकर द्रव पदार्थ के रूप में काले गाढ़े तेल सा पदार्थ निकलता है। उसके बाद वाह्य पदार्थ के रूप में उसमें से प्रवाहित होकर नीले लाल बैंगनी पीले जैसे अनेक रंगों में प्रकाश ज्ञान की किरणें निकलती है। इन किरणों के विकीर्णित हो जाने पर साधक स्फुट प्रज्ञा लोक ज्ञान से आकाश तत्व में पायी जाने वाली भिन्न भाषा में भिन्न वस्तुओं को देख लेता है। उसी प्रकार कुछ दिनों बाद फिर किरणों के विकीर्णित होने पर साधक उसी तरह स्फुट प्रज्ञा-लोक ज्ञान से तारका शक्ति के पृथ्वी

अन्यान्य रूपों के दर्शन व कृपा द्वारा पृथ्वी तत्व सतह के ऊपर पायी जाने वाली व नीचे पायी जाने वाली सूक्ष्म मात्रामें अनेक वस्तुओं को देख लेता है। इस बार के किरणों के विभाजित होने पर केवल एक बात का अन्तर रहता है, कि इस बार हरे रंग की भी विभाजित किरण दिखाई देती है। इसी तरह कालान्तर में साधक को तारक शक्ति के अन्यान्य रूपों के दर्शन व कृपा द्वारा स्फुट प्रज्ञा लोक ज्ञान से अन्य तत्वों का भी ज्ञान हो जाता है। जिस से योग आश्रित के पदार्थ भावना, तुरीय ज्ञान की पूर्व प्रकृति भूमिका की तरह उस अपने पूर्व प्रकृति के मिश्रित ज्ञान प्रकाश से असली पूर्व प्रकृति ज्ञान प्रकाश का भान हो जाता है। और उसके समाधि ज्ञान की अवस्था स्थूल विचार सविचार मिश्रित ज्ञान समाधि के सूक्ष्म विषय सविचार निर्विचार ज्ञान की अवस्था में पहुँच जाती है। वह आत्मा को सर्वथा सबसे अलग सर्व शक्तिमान सर्वव्यापी, सदानन्द रूप मान लेता है। तथा उसे ज्ञान प्रकाश विवेक ख्याति की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार साधक को अपनी आत्मा स्वरूप बुद्धि अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष रूप में दिखलायी देने लगती है। हमारे इस आशय की पुष्टि पातंजल योग दर्शन ने इस प्रकार की है।:—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा

(२-२७)

एतयैव स विचारा निर्विचारा च

सूक्ष्म विषया व्याख्याता।

(१-४४)

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये

ज्ञानदीप्तिरा विवेक ख्यातेः।

(२-२८)

तज्जयात् प्रज्ञालोकः

(३-५)

× × × ×

सिद्ध महापुरुषों की कृपा व प्रेरणा एवं तारक महाशक्ति की प्रातिभ ज्ञान या पवित्र ज्ञान द्वारा तत्वों का ज्ञान हो जाने पर जब साधक की आत्मा उषा कालीन सूर्य की तरह प्रकाशित हो जाती है तब साधक कालान्तर में पुनः जब पहले की भाँति नित्य की तरह अपने विवेक अर्जित ज्ञान से संयम के साथ साधना करता है तबधीरे-धीरे उसे महाप्रज्ञालोक ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। और सूक्ष्म तत्वों का जाने से उसे कर्म, विकर्म, और अकर्म तीनों तत्वों का बोध हो जाता है जिसके कारण महालोक से बिना संयम किये आप से आप समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिससे पुनः परम्परानुगत आये हुये अन्य सिद्धों के दर्शन होने लगते है। उन्हीं सिद्धों की प्रेरणा व तारक शक्ति की कृपा से साधक पुनः अपने चित्त में स्थित कमल का ध्यान करता है।

तो वृत्तियों सहित उसे चित्त का ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार उन्हीं की प्रेरणानुसार जब बुद्धि में संयम करता है तो उसके समस्त स्वार्थ व अहंकार का नाश हो जाता है। उसे स्वयम् अनुभूति होती है कि भगवान 'शंकर' के तृतीय नेत्र से जैसे उसका समस्त अहंकार जल रहा है। इस प्रकार अहंकार का नाश हो कर जब साधक की बुद्धि सत्व प्रधान होकर निर्मल होजाती है तब उसके बुद्धि में विशेष रूप से सिद्ध महापुरुष प्रतिबिम्बित होकर दिखाई पड़ने लगते हैं। उन्हीं सिद्ध महापुरुष का अवलंबन लेकर जब साधक पुनः अपनी बुद्धिमें संयम करता है तो योग माया महाशक्ति माँ काली के दर्शन होते है। साथ ही साथ 'अक्षर ब्रह्म' के रूप में, पहले से ही विद्यमान ॐ के स्वरूप में स्थित, पीताम्बरी आभा लिये जगत गुरु भगवान कृष्ण के दर्शन होते है। उसके बाद विशुद्ध महापुरुष सत्य स्वरूप भगवान 'शिव' के दर्शन होते है। इनके दर्शन होने के बाद ज्ञान का विषय बनना बन्द हो जाता है। वही भगवान शंकर का रूप कुछ दिनों बाद 'तत्व' के रूप में लिंग स्वरूप होकर अन्तःकरण में प्रकाशित होजाता है। वही 'शिव तत्व' धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप होकर सम्पूर्ण मस्तिष्क में होता हुआ पीताम्बरी आभा के साथ अति सूक्ष्म सूर्य की भांति त्रिपुटीके मध्य प्रकाशित हो जाता है। इसी अध्यात्म तत्व के प्रसाद के प्रकाशित हो जाने से निर्विचार समाधि में स्थित साधक की बुद्धि स्वच्छ और निर्मल हो जाती है। साथ ही साथ साधक की स्थिति दृढ़ व निश्चित हो जाती है जिससे उसे सत्य पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है, और उसका प्रवेश निर्बीज समाधि में हो जाता है। हमारे इस कथन की पुष्टि पातंजल योग-दर्शन ने इस प्रकार की है।—

प्रतिभाद्वा सर्वम्।

(३–३३)

निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्म प्रसादः।

(१–४७)

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

(१–४८)

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधा-
न्निर्बीजः समाधिः। (१-५१)

अतः इन सारी उपासना सारी प्रार्थना व विभिन्न प्रकार की साधना पद्धति की उल्लेखित घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि— आध्यात्मिक तत्वों व मानसिक चेतना पर निर्धारित राजयोग की यह साधना पद्धति यथार्थ धर्म विज्ञान है। जिसका मूल लक्ष्य कैवल्य पद या वेदान्तिक मोक्ष को पाना नहीं है। बल्कि जगत में रहते हुये आत्मा, मन, प्राण और शरीर से भगवान को प्राप्त करना है। तथा वर्तमान समय में भौतिकवाद के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण इस जगतमें उनका

ध्यान-वन्दना

● कविरत्न श्री जनक प्रसाद द्विवेदी

अलख निरंजन, भव भय भंजन,
रामलाल प्रभु, चरण नमामी।
जन मन रंजन, गुरु पद कंजन,
रामलाल प्रभु चरण नमामी ॥
भव मद गंजन, रक्षक सज्जन,
नमामि शरणं नमामि शरणं।
दीन दयालं, प्रभू कृपालं,
रामलाल प्रभु, चरण नमामी ॥
हे आदि कर्त्ता, हे दुख-हरता,
नमामि शरणं, नमामि शरणं।
पदारविन्दम् आनन्द कन्दम्,
रामलाल प्रभु, चरण नमामी ॥
हे शक्ति दाता जगत विधाता,
नमामि शरणं, नमामि शरणं।
नर जड़ जंगम्, प्रभु पद संगम्,
रामलाल प्रभु, चरण नमामी ॥
दो ज्ञान भक्ती, दो योग शक्ती,
नमामी शरणं, नमामि शरणं।
भवानी शंकर, कृपालु किंकर,
रामलाल प्रभु चरण नमामी ॥

(पिछले पृष्ठ का शेष)

पुनः राज्य स्थापित करना है। आप सभी साधकों से इस साधक की प्रार्थना है कि आप सभी साधक अपने अन्तः करण में परमात्मा को मानकर उस निमित्त कर्म करें क्योंकि आदि गुरु शंकराचार्य ने इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है।

आत्मा त्वं गिरजा मतिः।
सहचराः प्राणः शरीरं गृहं।
पूजा ते विषयोपभोग रचना।
निद्रा समाधि स्थितिः।
संचार पद्योः प्रदक्षिणाविधिः
स्तोत्राणि सर्वा गिरो।
यद्यत्कर्म करोमितत्तदखिलं।
शम्भो तवाराधनम्।

मृत्यु मानो पर्व है!

❀ श्री साने गुरु

तुमने किस प्रकार जीवन बिताया इसकी परीक्षा ही मृत्यु है। तुम्हारी मृत्यु से तुम्हारे काम की कीमत आँकी जायगी। जो मरते समय रोयेगा उसका जीवन दुःखपूर्ण ही समझना चाहिए। जो मरते समय हँसे उसका जीवन कृतार्थ समझना चाहिए। महापुरुष की मृत्यु एक दिव्य वस्तु है। वे आनन्द के दर्शन है। उसमें कितनी शान्ति है। कितना समाधान!

सुकरात मरते समय अमृत-तत्त्व का स्वाद ले रहा था। मरते समय गेटे ने कहा, 'अधिक प्रकाश, अधिक प्रकाश?' तुकाराम महाराज 'राम-कृष्ण-हरि' गाते-गाते ही मर गये। समर्थ ने कहा, "क्यों रोते हो? मेरा 'दासबोध' तो है।" लोकमान्य 'यदा यदा हि धर्मस्य' वाला श्लोक बोलते-बोलते ही चले गये।

संसार में इस प्रकार के कितने ही महाप्रस्थान हो गये होंगे। मृत्यु मानो शान्ति है। मृत्यु मानो नवजीवन का आरम्भ है, मृत्यु मानो आनन्द का दर्शन है। मृत्यु मानो पर्व है। वह आत्मा और परमात्मा की एकता का संगीत है। मरण मानो प्रियतम के पास जाना है।

कर ले सिंगार चतुर अलबेली,
साजन के घर जाना होगा।
मिट्टी ओढ़ावन, मिट्टी बिछावन,
मिट्टी में मिल जाना होगा॥
नहा ले, धो ले, शीश गुथा ले,
फिर वहाँ से नहीं आना होगा॥

यह गीत कितना सुन्दर है! इसके भाव कितने सुन्दर है! मरण का अर्थ है संसार से वियोग, लेकिन जगदीश्वर से मिलना। आत्मा और परमात्मा का मिलन ही मृत्यु है। जब मनुष्य मर जाता है तब हम उसको नये कपड़े पहनाते है। उसे स्नान कराते है। उसे सजाते है। मानो वह विवाह-जैसा मंगल कार्य हो। मरण मानो विवाह-मंगल।

भारतीय संस्कृति ने मृत्यु का डंक काट फेंककर उसको सुन्दर और मधुर बना दिया है। 'प्राणो मृत्युः' मृत्यु प्राण है, इस प्रकार सिद्धांत की स्थापना की गई है। मृत्यु मानो खेल है। मृत्यु मानो आनन्द है। मृत्यु मानो मेवा-मिठाई है। मृत्यु मानो पुराने वस्त्र निकालना है। मरण मानो चिर विवाह है।

जिस संस्कृति ने मृत्यु को जीवन बना दिया उसके उपासकों में आज मृत्यु का अपार डर भरा हुआ है। उनको मृत्यु बिल्कुल ही पसन्द नहीं होता। सब लोग केवल शरीर का ही लाड़-प्यार करने वाले बन गये हैं। जो महान ध्येय के लिए इस देहरूपी गठरी को हँसते-हँसते फोड़ने के लिए तैयार हों वे ही भारतीय संस्कृति के सच्चे उपासक हैं। अपने चमड़े से ही प्यार करने वाले भारतीय संस्कृति के नाम को सुशोभित नहीं करते। भारत के सारे दैन्य दास्य और निर्मम वैषम्य को दूर करने के के लिये देह का बलिदान करने को जब लाखों युवक-युवतियाँ तैयार होंगी तभी भारतीय संस्कृति की सुगन्ध दिशा-दिशा में फैल जायगी और भारत नये तेज से चमकने लगेगा। ❀

योग महामेला एवम् महाप्रभु जी की जयन्ती

(हमारे विशेष प्रतिनिधि द्वारा)

सदा की भांति इस वर्ष भी चैत्र शुक्ला ७-८ और ९ वीं तदनुसार दिनाङ्क २८, २९, ३० मार्च ७४ ई० को महाप्रभु जी की पावन जयन्ती के उपलक्ष में सथाई ग्राम स्थित श्री सिद्धगुफा के सुविशाल प्रांगण में त्रिदिवसीय समारोह योग-महामेला के रूप में अतीव धूमधाम और हर्षोल्लास के साथ मनाया गया।

देश के कोने-कोने से हजारों योग-पथ प्रेमी भाई-बहिनों ने श्रद्धापूर्वक इसमें सम्मिलित होकर अपने श्रद्धा सुमन महाप्रभु जी की इस लीला भूमि में उनकी साधना कुटी पर और अपने गुरुदेव जी के चरण कमलों में अर्पित कर अपने को कृतार्थ किया।

प्रतिदिन प्रातः बेला में सामूहिक आरती के पश्चात् ध्यान की श्रेणियां चलाई जाती थीं इसके बाद प्रभु वंदना के साथ खुले अधिवेशन का शुभारम्भ होता रहा। महिला सम्मेलन संगीत रत्न तपोमूर्ति बहन उमाशर्मा जी की अध्यक्षता में चलता रहा जिसमें देश के कई सुविख्यात गायकों तथा कलाकारों ने भाग लिया। इनमें मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं, माता द्रोपदी देवी के आश्रम की आचार्या सुश्री शान्ति बहन तथा सु श्री सुमित्रा जी।

सायंकाल सम्मेलन की प्रवचन श्रृंखला का आरम्भ पूज्यपाद श्री गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के सारगर्भित योग प्रवचनों से होता रहा। बनारसके पाणिनी कन्या महाविद्यालयकी आचार्या सुविख्यात विदुषी श्री प्रज्ञादेवीजीका व्याख्यान वेद के गम्भीर रहस्यों को उद्घाटन करने तथा आदि ज्ञान के भण्डार वेद के प्रति सबकी अभिरुचि बढ़ाने वाला रहा। इस विद्यालयके बालिकाओं का सस्वर वेद पाठ भी अपने ढंग का अनोखा रहा और इसमें भी अधिक आकर्षक और शिक्षाप्रद रहे बालिकाओं के आत्म-रक्षार्थ शारीरिक, व्यायामपरक प्रदर्शन। अलीगढ़ के डा० रामअवतार शर्मा का व्याख्यान भी दर्शकों के लिए उपादेय रहा। आपने योगासनों द्वारा विविध रोगों के निवारण के उपायों पर प्रकाश डाला। ब्रह्मचारी श्री बलराम ने प्राणायाम की साधना के कई सफल सराहनीय प्रदर्शन किए। सत्संग संकीर्तन कार्यक्रमों में बनारस से पधारे श्रीमती पूर्णिमा चौधरी का शास्त्रीय गायन तथा श्री कालकाप्रसाद मिश्र श्री कामेश्वरनाथ मिश्र श्री मनोज मिश्र तथा विश्व प्रसिद्ध पखावज वादक श्री छत्रपति सिंह (बिजना महाराज) का वादन एवं श्री इन्दु शर्मा के भजन भी प्रशंसनीय रहे।

अन्तिम दिन हर वर्ष की भांति विशाल ब्रह्मभोज का शुभारम्भ सामूहिक वेद पाठ के साथ हुआ [illegible] सम्पन्न हुआ [illegible] कतिपय दृश्य भी इस बार फिल्माये गये।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008, May, 1985

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

....

आत्मा और बुद्धि

आत्मा और बुद्धि दो भिन्न तत्व हैं। आत्मा चेतन पुरुष है और बुद्धि अचेतन प्रकृति का अङ्ग है, परन्तु जब आत्मा बुद्धि से युक्त होता है तब वह ज्ञाता, ध्याता, प्रमाता या द्रष्टा कहलाता है क्योंकि बिना बुद्धि के वह कुछ भी नहीं जान सकता। चित्त पर बाह्य जगत के विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है और वह स्वयं भी सत्व, रजो या तमोगुण से क्रमशः कभी शांत, कभी अशांत और कभी मूढ़ अवस्थाओं में बदलता रहता है। बुद्धि में स्थित आत्मा उनको अनुभव किया करता है। चित्त के इन आन्दोलनों को वृत्तियां कहते हैं। आत्मा इन का द्रष्टा बन कर अपने स्वरूप को भूले हुए है। इन वृत्तियों के निरोध रूपी अभाव में वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

—श्री स्वामी विष्णुतीर्थ

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा-१ फोन ६११६८